नव–जीवन का प्रारंभः

संघरक्षित की आध्यात्मिक–आचरण प्रणाली में दीक्षा–संस्कार समारोह का स्थान

धम्मचारी सुभुती

त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के सभी सदस्यों के लिए उर्गेन संघरक्षित की ओर से संदेशः

धम्मचारी सुभुती के साथ हुई मेरी बातचीत के आधार पर उन्होंनें यह जो लेख लिखा है, उससे आपको परिचित कराते हुए, पुनः एक बार मैं बहुत हर्ष महसूस कर रहा हूँ। सिलसिलेवार रुप से आते हर नये लेख ने मेरे लिये यह संभव कर दिया कि उस लेख में चर्चित महत्वपूर्ण मुद्दे पर मैं वर्तमान में क्या सोच रखता हूँ, यह बात आप तक पहूँचा पाँऊ। मेरा ऐसा मानना है कि यह महत्वपूर्ण मुद्दे त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के भविष्य को गंभीरता से प्रभावित करेंगे और इस कारण से इस कारण आधुनिक जगत में बौद्ध धर्म को भी। इस लेख में भी सुभुती ने अतिशय निष्ठा के साथ इस बात को अभिव्यक्त किया हैं कि त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में होने वाले धम्मचारी दीक्षा-संस्कार समारोह के विषय में मेरा दृष्टीकोण क्या हैं। मुझे विषेश रुप से यह बात प्रशंसात्मक लगी कि किस तरह मेरी शिक्षाओं की एकात्मता को अबाधित रखते हुए साथ ही दीक्षा-संस्कार समारोह के महत्वपूर्ण स्थान को भी पाठकों तक पहुँचाया हैं। सभी कुछ अपने यथायोग्य स्थान पर हैं। भले ही हर बात के बीच का आपसी संबंध हमेशा ही सरलता से नजर ना आता हो।

मैं संघ के सभी सदस्यों से यह अनुरोध करता हूँ कि वे इस लेख का गहराई से अध्ययन करें। और मै, विशेषतः, व्यक्तिगत उपाध्यायों से यह अनुरोध करता हूँ कि इसे अमल में लानें हेतु वे जाहिर उपाध्यायों के साथ निकटता से सहयोग करें। ऐसा करने के लिए सभी उपाध्यायों को अत्यंत कठिन परिश्रम के साथ कार्य करने की आवश्यकता होगी : सर्वप्रथम उन्हें यह तसल्ली करनी होगी कि जो बात उनके समक्ष रखी जा रही है, उस बात को वे वाकई समझ रहे है, उसके पश्चात उन्हें सावधानीपूर्वक इस बात को विचाराधीन लेना होगा कि वे इसे व्यवहारिक रुप में अपने शिष्यों पर किस प्रकार से लागु करें और अंत मे यह भी कि उसे परिपूर्ण रुप से आचरण में लाया जाए। और वाकई जैसा कि सुभुती ने इसे संबोधित किया है, इसका तात्पर्य पुनः प्रशिक्षण से ही हैं, और मैं आप सभी से यह अनुरोध करता हूँ कि आप इस बात को अत्यंत गंभीरता से ले।

जैसा कि इस लेख में प्रस्तुत है, धम्मचारी दीक्षा-संस्कार ही हमारी संपूर्ण आध्यात्मिक-जीवन प्रणाली एवं आध्यात्मिक-आचरण प्रणाली का महत्वपूर्ण अंश है। हमारे इस आंदोलन के संपर्क मे आने के प्रथम क्षण से ही कोई भी व्यक्ती स्पष्ट रुप से यह देख सकता है कि व्यापक एवं संतुलित ऐसी यह आचरण-प्रणाली उनके लिये उपयुक्त है जो कि उचित समय पर उन्हें संघ में प्रवेश करने की दिशा में ले जाती हैं। मैं सभी धम्मचारी एवं धम्मचारीणियों से यह अनुरोध करता हूँ कि वे त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में सिखायी जाने वाली हर बात को ध्यानपूर्वक देखें ताकि उन्हें इस बात की तसल्ली हो कि वह बात वाकई इस आचरण-प्रणाली में अपना संपूर्ण योगदान दे रही हैं --- और मुझे वाकई इस बात की खुशी है कि अंतरराष्ट्रिय परिषद ने इस प्रकार के उद्देश्य विशेष की पूर्ती हेतु संपुर्ण आंदोलन में व्यापक रुप से प्रयोग आरंभ किये है।

और निश्चित ही मैं आप सभी को इस बात के लिए प्रबल रुप से प्रेरित करना चाहता हूँ कि आप स्वयं इस आचरण-प्रणाली को परिपूर्णता एवं गहराई के साथ अपने आप पर लागु करें : कर्म नियम के स्तर पर

एकीकृतता तथा सकारात्मक भावना का विकास करके तथा धर्म नियम के स्तर पर अधिक विशेष रुप से आध्यात्मिक ग्रहणशीलता, आध्यात्मिक मृत्यु एवं पुनर्जन्म के लिए प्रकट रुप से कार्य करके। अगर हम में से हर एक व्यक्ती इस प्रकार से परिश्रम पूर्वक स्वयं पर कार्य करें तो बाकी सब कुछ अपने आप ही प्राप्त हो जाएगा।

संघरक्षित
मध्यमलोक
२५ नवंबर २०११

नव-जीवन का प्रारंभः
संघरक्षित की आध्यात्मिक-आचरण प्रणाली में दीक्षा-संस्कार समारोह का स्थान

संघरक्षित की संपूर्ण शिक्षा का महत्वपूर्ण अंश वह संस्कार समारोह है, जिसके संपन्न होने से व्यक्ती त्रिरत्न बौद्ध महासंघ का सदस्य बन जाता है। उस दीक्षा-संस्कार समारोह के सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत, इन दो भागों में संघरक्षित के धम्म-प्रस्तुतीकरण के समस्त घटकों को परिशुद्ध स्वरुप देकर उन्हें विधीपूर्वक निभाया जाता हैं। सामान्यतया जिस व्यक्ती की दीक्षा हो रही होती है, वह जो कुछ भी हो रहा है उसके प्रतिकात्मक अनुनाद से अत्यंत प्रभावित महसूस करता है, उसे ऐसा लगता है मानो अर्थ एवं उद्देश के कई धागे एक ही बंधन में बंध रहे हो। अक्सर उन्हें ऐसा महसूस होता है कि त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के सानिध्य में उनका संपूर्ण अनुभव मात्र इसी एक क्षण के लिए प्रशिक्षण था : और जो व्यक्ती दीक्षा ग्रहण करता है, वह अपना शेष जीवन संघरक्षित के शिष्य के रुप में व्यतित करता है, उस बात को परिपूर्णता प्रदान करने हेतु कार्य करते हुए जो बात उस दीक्षा-संस्कार समारोह में अंकुर स्वरुप थी।

त्रिरत्न बौद्ध महासंघ की स्थापना होने के समय से लेकर पिछले चालिस से भी अधिक वर्षों के काल में, क्योंकि संघरक्षित के धम्म सादरीकरण के अपने ढंग में अधिक स्पष्टता एवं सातत्य आता रहा है, इस कारण से दीक्षा-संस्कार समारोह को समझने एवं निभाये जाने की पद्धती भी धीरे-धीरे उत्क्रांत होती रही है। मुझे याद है जब चालिस साल से भी अधिक वर्ष पूर्व मैनें सेंट्रल लंदन स्थित 'द थ्री ज्वेल्स सेंटर' को पहली बार भेंट दी थी, जो उस समय का FWBO का एकमात्र केंद्र था। भीड़-भाड़ भरे उस सँकरे से स्वागत कक्ष में संकोचपूर्वक प्रवेश करते ही मैंने वहाँ के एक नोटिस् बोर्ड् का अत्यंत परिश्रम पूर्वक अभ्यास करने का आश्रय ले लिया, जिस पर पाश्चिमात्य बौद्ध महासंघ, जिस नाम से उसे उस वक्त जाना जाता था, में उपलब्ध दीक्षाओं की जानकारी देनेवाला एक दस्तावेज था। कुल मिलाकर दीक्षाओं के चार प्रकार थे : उपासक/उपासिका('सर्वसाधारण स्त्री या पुरुष शिष्य'), महा-उपासक/उपासिका('ज्येष्ठ सर्वसाधारण शिष्य'), बोधिसत्व तथा भिक्षु/भिक्षुणी दीक्षा। इस घटना के कुछ तीन वर्ष पश्चात, संघरक्षित ने वाकई एक महा-उपासिका की दीक्षा की, जिस समारोह में मैं स्वयं भी उपस्थित था, एक महा-उपासक की दीक्षा भी प्रदान की गई थी और उस व्यक्ती ने बोधिसत्व दीक्षा भी ग्रहण की थी।[1]

अस्सी के दशक के आरंभिक काल में, संघरक्षित ने यह स्पष्ट कर दिया था कि त्रिरत्नों को शरण-गमण करना ही बौद्ध जीवन की केंद्रिय एवं निर्णायक कृती है जिसकी पुनरावृति व्यक्ती की आध्यात्मिक यात्रा के हर चरण में तथा उसके द्वारा किये जाने वाले प्रयत्नों के हर पहलू में होती हैं। और निश्चित रुप से, समस्त ब्रम्हांड में सर्वत्र उपस्थित एवं क्रियान्वित उत्क्रांती के आवेग को, जो कि मनुष्य में आत्म-जागृती का स्वरुप धारण कर लेता है, व्यवहार्य रुप से अपने जीवन में क्रियान्वित करने के अर्थ से भी शरण-गमण को देखा

[1] जिन्होंने यह दीक्षाए ग्रहण की थी वह लोग तब से संघ को छोड़कर जा चुके है।

जा सकता है। बौद्ध संदर्भ में दीक्षा का अर्थ है जागृतीपूर्वक एवं अंतकरण पूर्वक उत्क्रांती के इस आवेग को आलिंगनबद्ध करना -- बुद्ध, धम्म एवं संघ को परिणामकारक रुप से शरण-गमण करने की कृती; क्योंकि अपनी समस्त उर्जाए इसी हेतु समर्पित करने के लिये व्यक्ती अपने मानसिक स्तर पर पर्याप्त रुप से एकीकृत होता हैं।

तद्नुसार संघरक्षित कहते हैं कि ऐसे में बौद्ध परंपराओं में जो विभिन्न प्रकार के दीक्षा-संस्कार पाये जाते है और जो कि त्रिरत्नों को किये जाने वाले शरण-गमण की ही पूर्ण सार्थकता को ना समझ पाने का प्रतिनिधित्व करते है; ऐसे विभिन्न दीक्षा-संस्कारों की आवश्यकता शेष नहीं रहती। अपने गुरू की उपस्थिती में उनके समक्ष अपनी प्रतिज्ञाबद्धता का ऐलान करने के उपरांत व्यक्ती को अधिक कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती। व्यक्ती को केवल इतना करना होता है कि वह अपने जीवन के हर चरण में तथा उसके हर पहलू में उस प्रतिज्ञाबद्धता को क्रियान्वित करें। यह सारी बातें संघरक्षित ने १९८१ में भारत में दिए गए अपने प्रवचन 'शरण-गमण' में सर्वप्रथम स्पष्ट की थी; और फिर उसके पश्चात १९८८ में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'मेरे शरण-गमण का इतिहास' में; जो कि शरण-गमण के अर्थ तथा दीक्षा-संस्कार समारोह के साथ के उसके संबंध के विषय में; एक लंबी कालावधी में क्रमशः विकसित होती उनकी सोच को अधिक पूर्ण रुप से दर्शाती है। इसे उन्होंने उस नये बौद्ध संघ में साकार होता देखा जिस संघ की उन्होंने स्थापना की -- उस समय का पाश्चिमात्य बौद्ध महासंघ/त्रैलोक्य बौद्ध महासंघ, जिसे वर्तमान में त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के रुप में जाना जाता हैं। १९६९ में उस नोटिस्-बोर्ड पर मैनें जो चार प्रकार की दीक्षाए देखी थी वह सब आज एक ही धम्मचारी/धम्मचारीणी दीक्षा में संघनित हो चुकी है, ऐसी दीक्षा जिसमें की धम्म 'कार्यक्षेत्र' के प्रति जीवनपर्यंत एवं परिणामकारक प्रतिज्ञाबद्धता समाविष्ट हैं।

वर्तमान में त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में दीक्षा एवं वह संस्कार समारोह जिसके अंतर्गत यह दीक्षा प्रदान की जाती है, इन दोनों बातों के अर्थ को समझने हेतु बुनियादी तौर पर हम इसे ही इस्तमाल करते है। तथापि, संघरक्षित का यह विचार है कि अभी भी इसे अधिक सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता है ताकि यह उनके धम्म-प्रस्तुतीकरण के ढंग से मेल खायें तथा अन्य पारंपारिक विधीसंस्कारों के साथ उसके संबंध के विषय में जो अस्पष्टता हैं; उसे दूर किया जा सकें। पिछले एक वर्ष या उससे भी अधिक समय से, मेरी उनके साथ चर्चाओं की जो एक श्रृंखला चली आ रही है, उसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया कि वर्तमान में वह दीक्षा-संस्कार समारोह को किस तरह समझते है एवं वे जैसा समझते हैं वैसे उसे व्यवहार में लाने हेतु उनकी हमसें क्या अपेक्षाए हैं, और मेरे प्रस्तुत लेख का विषय यही हैं। मैने जो लिखा हैं वह उन्होंने देखा हैं तथा उन्होंने इस बात की पुष्टी की है कि यह वाकई उनकें विचारों तथा उनकी इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करता हैं; परंतु मेरे शब्दों में ना के उनके। हालाँकि दीक्षा-संस्कार समारोह के सिद्धांत एवं उसे व्यवहार में लाने की प्रक्रिया के संदर्भ में किन्हीं विशेष बदलावों की आवश्यकता को प्रतिपादित नहीं किया गया हैं फिर भी उनके विचार में यह सूक्ष्म बातें महत्वपूर्ण हैं और उनका यह अनुरोध है कि सार्वजनिक उपाध्याय विद्यालय के मार्गदर्शन में इन बातों को भली भाँती समझा जाए तथा धीरे धीरे उन्हें व्यवहार में लागू किया जाए।

व्यापक संदर्भ

हमारे अन्वेषण का आरंभ हमें दीक्षा-संस्कार को जितना संभव हो सके उतने व्यापक संदर्भ के अंतर्गत रखते हुए करना होगा। संघरक्षित के धम्म प्रतिपादन के अपने ढंग के जो महत्वपूर्ण मुद्दे है उनका फिर एक बार संक्षिप्त रुप से पुनरावलोकन करते हुए।

धम्म-जीवन जीने का उद्देश होता है बोधी को प्राप्त करना अर्थात सर्व प्रकार के दुःखों से विमुक्त होना, जिसे हमारे एतिहासिक कालखंड में सर्वप्रथम शाक्यमुनी बुद्ध ने प्राप्त किया था। इसकी प्राप्ती होती है प्रतित्य समुत्पाद के अंतर्गत जो कि एक दुसरे के आधार पर निर्माण होने वाली ऐसी घटनाओं का प्रवाह है जो अपनी सम्पूर्णता में वास्तविकता का निर्माण करता है। विमुक्ती संभव इसलिए है क्योंकि इस प्रवाह में ऐसी कुछ धाराए उपस्थित होती है जो कि बुद्धत्व की दिशा में अग्रसर होती है, नियमशीलता या ऐसे सिद्धांत, जिनका अगर योग्य लाभ उठाया जाए तो, बुद्ध ने जो प्राप्त किया उसे प्राप्त करने के लिए वे हमारा नेतृत्व करते है। धम्म-जीवन मूलतः इन्हीं धाराओं के साथ सक्रिय सहयोग करना हैं, जो हमें बोधी तक ले जाती है। वह नियमशीलतायें या सिद्धांत जो बुद्धत्व को साध्य बनाते है, उन्हें कर्म नियम तथा धर्म नियम इन दो शिर्षकों के अंतर्गत, दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

कर्म नियम प्रक्रियाओं के साथ कार्य करने में यह बात शामील है कि अपने आपको एक नैतिक अभिकर्ता के रुप में मान्यता प्रदान करना तथा इरादतन काया, वाचा एवं मन द्वारा किये जाने वाले कुशल कर्मों को और भी अधिक विकसीत करना, ताकि इसके फलस्वरुप चेतना की ऐसी अवस्थाए उत्पन्न हो जो अधिक संतुष्टी से युक्त, सुक्ष्म, लचीली तथा ग्रहणशीलता से युक्त हों। ऐसी अवस्थाए आत्मनिष्ठ या आत्मकेंद्रित पक्षपात या पूर्वाग्रह से अधिक से अधिक मुक्त होती है और इसी वजह से वह वस्तुओं के वास्तविक स्वरुप के साथ अधिक सुसंगत होती है। आध्यात्मिक पथ का यह चरण अपने अंतिम परिणाम को तब प्राप्त करता है जब व्यक्ती के कर्म प्रयास एक ऐसे चित्त की उत्पत्ती को संस्कारीत करते हैं जो वास्तविकता के सत्य स्वरुप को पूर्णता अंतर्लीन करने में सक्षम हो।

धर्म नियम प्रक्रियाओं की प्रथम अनुभुती आत्म-श्रेष्ठता की ओर खिंचाव के स्वरुप में या फिर आत्म-आसक्ति के परे जो जीवन है उसकी एक झलक मात्र पाने से होती है -- *सम्यक दृष्टी* या 'परिपूर्ण दृष्टी' का वह पहला संकेत, जो अक्सर आध्यात्मिक खोज को प्रारंभ कर देता है। स्त्रोतापन्न अवस्था प्राप्त करने पर यह प्रक्रियायें अपने आप को निर्णयात्मक रुप से प्रकट करना आरंभ करती है जब एक स्वतंत्र अभिकर्ता के होने के विचार या भाव को एक भ्रामक कल्पना के स्वरुप में देख लिया जाता है, कर्म नियम के स्तर पर चाहे फिर यह कल्पना कितनी ही आवश्यक क्यों ना हों। ऐसा होने पर तेजी से बढ़ते आत्म-भाव विरहित संकल्पो के स्वयं-स्फूर्त प्रवाह का अर्विभाव होता है जिसके प्रतिफल स्वरुप केवल कुशल कर्म ही घटीत होते है। स्त्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त करने से पूर्व व्यक्ती अपनी चेतना के अंतर्गत के उस प्रवाह के खिंचाव के प्रती

ग्रहणशीलता को विकसीत कर; धर्म नियम प्रक्रियाओं के साथ कार्य कर सकता है, इसके लिए वह सुव्यवस्थित रुप से हर उस बात के लिए श्रद्धा को विकसित कर सकता है जो उस आत्म-भाव विरहित इच्छाओं के प्रवाह का मूर्त स्वरुप होती है, विशेषतः वह जो बुद्ध तथा उनकी शिक्षाओं के रुप में होती है। इन सब बातों से उपर, व्यक्ती इस बात के लिए निरंतर प्रयास करता रहता है कि वह अपनी आत्म-आसक्ति को पोषित करने वाले भ्रमों को पहचाने तथा उस आसक्ति को नष्ट कर दें।

प्रतिज्ञाबद्धता के चरण

धम्म जीवन के लिए कर्म नियम तथा धर्म नियम प्रक्रियाँओं के साथ सक्रिय सहयोग करने की आवश्यकता होती है क्योंकि यह प्रक्रियाँए वास्तविकता की सदैव उपस्थित संभावनाए होती है। इसके लिए इस बात की आवश्यकता होती कि हम अपने जीवन के हर पहलू की जागृती एवं स्पष्टता के साथ पुनः रचना करें ताकि उतरोत्तर ऐसी परिस्थितीयाँ निर्मित हो जिनमें यह प्रक्रियाँए अपने आप को प्रकट कर सकें। यह जागृती एवं स्पष्टता के साथ की गई पुनः रचना त्रिरत्नों को किये जाने वाले शरण-गमण की कृती में अपनी परिपूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है जहाँ व्यक्ती आर्य-संघ के साथ प्रेरक सहसंबंध तथा कर्म एवं धर्म उर्जाओं के साथ सहयोग कर, बुद्ध की तरह बनने के लिए अपने आप को प्रतिज्ञाबद्ध करता है। आर्य-संघ अपने आप में ही एक शरण स्थान है क्योंकि वह ऐसे व्यक्तीयों का संघ हैं जिनमें धर्म नियम प्रक्रियाँए प्रबल हो चुकी है : जो पूर्णतया 'धम्म के प्रवाह में प्रवेश कर चुके है'।

जैसे जैसे व्यक्ती अपने आप को अधिक से अधिक पूर्ण रुप से कर्म एवं धर्म नियम प्रक्रियाँओ के साथ संरेखित करता है उसकी अधिक से अधिक उर्जाए उन प्रक्रियाँओ में कार्यरत होना आरंभ कर देती है और इस प्रकार धीरे धीरे उसकी प्रतिज्ञाबद्धता भी धीरे धीरे विकसित होती है। इस विकसित होती प्रतिज्ञाबद्धता को संघरक्षित पाँच चरणों में वर्गीकृत करते हैं : त्रिरत्नों को किये जाने वाले शरण-गमण के पाँच स्तर। ***सांस्कृतिक*** स्तर की प्रतिज्ञाबद्धता यह वास्तव में प्रतिज्ञाबद्धता है ही नहीं, ऐसा इसलिए क्योंकि इस स्तर पर अभी तक कोई भी एकीकृत ऐसा नैतिक व्यक्तित्व नहीं होता। केवल उस संस्कृती या सामाजिक परिवेश में जन्म होने के कारण या फिर शिक्षा प्राप्त करने के कारण ही व्यक्ती में बौद्ध धर्म एवं उसके नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा की भावना होती है। अपनी इस पहचान के कारण व्यक्ती नैतिक रुप से सकारात्मक आचरण करने के लिए प्रभावित हो सकता है और इसके फलस्वरुप एक सच्ची नैतिक आत्म-चेतना विकसित हो सकती है। ***तात्कालिक*** शरण-गमण कदाचित सम्यक दृष्टी की झलक पाने पर या फिर ऐसे क्षणों में उत्पन्न होता है जब व्यक्ती अल्पकालिक प्रेरणा या अंतर्दृष्टी प्राप्त करता है, परंतु शरण-गमण को निरंतर बरकरार रखने योग्य सामर्थ्य इसमें नहीं होता। फिर भी समय समय पर व्यक्ती कर्म तथा धर्म संस्कारितता के साथ कार्य करने के कुछ प्रयास करता रहता है उसके यही प्रयास आज नहीं तो कल उसे परिणामकारक रुप से शरण-गमण करने हेतु सक्षम बना सकते है।

परिणामकारक शरण-गमण करने का आधार होता है आत्म-आसक्ति के दायरें से परें जो स्थित है उसकी एक सम्मोहक ऐसी झलक का प्राप्त होना तथा व्यक्ती की उर्जाओं का इतने पर्याप्त रुप से समन्वित होना ताकि वह उर्जाए कम अधिक मात्रा में सदैव एकसा आचरण करते रहने वाले नैतिक अभिकर्ता को निर्मित कर सकें। तब वह व्यक्ती इस स्थिती में होता है कि वह निरंतर तथा परिणामकारक रुप से कर्म तथा धर्म नियम प्रक्रियाँओं को विकसित कर सकें। परंतु यह विकास पूर्णतया सातत्य से किये गये एच्छिक प्रयासों पर निर्भर होता है। जब शरण-गमण ***वास्तविक*** होता है तब धर्म नियम प्रक्रियाँए प्रबल होती है, वह स्वयं-स्फूर्त रुप से अपने आपको उस व्यक्ति में प्रकट करती जो उतरोत्तर अपनी आत्म-आसक्ति की सूक्ष्मतम गहनता पर विजय प्राप्त कर, उन प्रक्रियाँओं के साथ पूर्णतया सहयोग करता है। अंतिम शरण-गमण अपने आप में बुद्धत्व की ही स्थिती है, जहाँ पर शुद्ध आत्म-भाव विरहित संकल्पों -- धर्म नियम प्रक्रियाँओं के प्रवाह के अलावा और कुछ भी नहीं होता है।

उपरोक्त प्रणाली में केवल परिणामकारक शरण-गमण ही है जिसमें की गंभीरता है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह आध्यात्मिक-जीवन का वास्तविक युद्ध-क्षेत्र है। इससे पूर्व तात्कालिक शरण-गमण के स्तर पर, किसी भी प्रकार की योजनाबद्ध पद्धती से प्रगती नहीं होती क्योंकि इस स्तर पर लगातार बरकरार रहने वाली प्रतिज्ञाबद्धता का आभाव होता है और इस कारण से प्रगती के लिए आवश्यक कर्म एवं धर्म संस्कारित प्रक्रियाँओं के विकास हेतु लगातार बरकरार रहने वाले प्रयासों का भी आभाव होता है। परिणामकारक शरण-गमण के बाद का जो वास्तविक शरण-गमण का स्तर है उसमें विकास स्वयं-स्फूर्त होता है और आगे इस स्तर पर किया जाने वाला किसी भी प्रकार का प्रयास केवल पहले ही से आत्मनिर्भर हो चुकी प्रक्रिया को केवल और अधिक तेज गती ही प्रदान कर सकता है। दीक्षा-संस्कार समारोह में इसी स्तर की प्रतिज्ञाबद्धता को देखा और घोषित किया जाता है क्योंकि यह वह स्तर है जिसमें व्यक्ती वास्तव में आध्यात्मिक मार्ग के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध होता है।

आध्यात्मिक आचरण एवं विकास के चरण

त्रिरत्नों को किये जाने वाले शरण-गमण की कृती में बुद्धत्व प्राप्त करने हेतु कर्म एवं धर्म संस्कारितता पर कार्य करने की प्रतिज्ञाबद्धता व्यक्त की जाती है। परंतु उस प्रतिज्ञाबद्धता को व्यवहार में किस प्रकार से लागू किया जा सकता है? निश्चित ही, आध्यात्मिक-जीवन के अपने सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक परिपेक्ष को स्पष्ट तथा सुबोध रुप से प्रस्तुत करने हेतु संघरक्षित बुद्ध की मूलभूत शिक्षाओं का सहारा लेते है।

तथापि, उनके द्वारा प्रस्तुत केंद्रिय शिक्षा का आधार हमें १९७८ में उनके द्वारा दिये गये व्याख्यान 'द सिस्टम ऑफ मेडिटेशन' में मिलता है। इसमें उन्होंने गंभीरता की ओर जाते आध्यात्मिक आचरण को चार चरणों में वर्गीकृत किया था : आध्यात्मिक मृत्यु तथा आध्यात्मिक पुनर्जन्म। यह चार चरण उनके द्वारा सारस्वत स्त्रोतों से ली गई महायान शिक्षा 'पाँच प्रमुख मार्ग' का आंशिक रुप से परिवर्तित रुप थी, जिसे

उन्होंने नये नामों के साथ प्रस्तुत किया तथा उसका विवेचन थोड़े-से अलग ढंग से किया था। हालाँकि उस व्याख्यान में उन्होंने इन चरणों को ध्यान की अवस्थाओं के रुप प्रस्तुत किया है, तथापि यह स्पष्ट है कि इन चरणों को अधिक विस्तृत रुप से आध्यात्मिक जीवन के चरणों के रुप में लागू किया जाना चाहिए, ताकि आचरण के हर पहलू में इन चरणों पर कार्य किया जा सकें।

हर आनुक्रमिक चरण संस्कारितता की विकसनशील प्रवृत्तीयों के साथ अधिक गंभीरता से संलग्न होता है, पहले कर्म नियम प्रक्रियाओं को क्रियान्वित करते हुए और फिर उसके उपरांत धर्म नियम प्रक्रियाओं को। हर चरण अपनी चरम सीमा तक तभी विकास कर सकता है जब उससे पिछला चरण पर्याप्त रुप से मजबूत या स्थिर हो -- यह एक 'नियमित चरणों का मार्ग' है। अगला चरण पिछले चरण को पिछे नहीं छोड़ता, बल्कि ऐसा कहा जा सकता है कि वह उसे अपने में सम्मिलित कर और भी अधिक पूर्णत्व प्रदान करता है।

एकीकृतता का चरण एक नैतिक अभिकर्ता के रुप में स्वयं की अनुभुती तथा जिम्मेदारी लेने से संबंधीत है, एक ऐसे नैतिक अभिकर्ता के रुप में जों कि कर्म नियम प्रक्रियाओं के अनुरुप, कर्म की उर्जाओं के साथ कार्य कर उत्तरोत्तर एक अधिक स्वस्थ चित्त का विकास करने में सक्षम हों। यह विशेषतः जागृती के अभ्यास के माध्यम से किया जाता है, जिसकी शुरवात की जाती है शरीर एवं उसकी क्रियाओं के विषय में जागृती रखने से -- और ध्यान-साधना में विशेषरुप से श्वसन प्रक्रिया की जागृती रखने के माध्यम से। तथापि, व्यक्ती के आध्यात्मिक प्रयत्नों के आरंभ में, यकिनन, वह सामाजिक परिवेश जिसमें व्यक्ती जीवन व्यतीत करता है, उसकी आजिविका तथा जीवन जीने की पद्धती इन सभी का इस बात पर सशक्त और अक्सर निर्णायक प्रभाव पड़ता है कि वह व्यक्ती एकीकृतता का विकास कर पायेगा या नहीं और फिर आगे अन्य उत्तरवर्ती चरणों का विकास होगा या नहीं।

सकारात्मक भावना का चरण पद्धतीबद्ध रुप से ऐसे कुशल उद्देशों एवं कर्मों को विकसित करने से संबंधीत है कि जिनके कर्मफलस्वरुप एक ऐसा चित्त निर्मित होता है जो अधिक सूक्ष्मता से समस्वरित होता है। यह एक नैतिक चरण है और इसका विकास व्यक्ती के दैनंदिन कार्यकलापों को शीलों का प्रमाण लगाकर किया जाता है तथा मेत्ता भावना जैसे ध्यान के माध्यम से कुशल उद्देशों को विकसित करने के द्वारा। इस चरण में व्यक्ती और भी गंभीरता से एकीकृतता पर कार्य कर रहा होता है, ना केवल उस स्तर पर जिसे कि संघरक्षित 'समस्तरीय एकीकृतता' कहते है बल्कि उस एकीकृतता के उर्ध्वगामी चरण पर भी, जहाँ व्यक्ती जानबूझकर 'ध्यान' जैसी चेतना की उच्च अवस्थाओं को विकसित करता है। यह चित्त को इंद्रिय जगत की सम्मोहक स्थिरता से कुछ समय के लिये मुक्त कर उसे निर्मल एवं परिष्कृत करता है जिससे वह वास्तविकता के प्रभाव को अंतर्लीन करने के लिए अधिक से अधिक अनुकुल होता है।

इन दो चरणों में व्यक्ती अधिक से अधिक गंभीरता से तथा व्यापकता से वास्तविकता में उपस्थित कर्म की प्रवृत्तीयों के साथ कार्य करता है, चीजों की वास्तविकता को पहचानने तथा धर्म नियम प्रक्रियाँओं को स्वयं के जीवन का मार्गदर्शन करने का अवसर प्रदान करने हेतु आधार को निर्मित करते हुए। ऐसा भी कहा जा

सकता है कि एकीकृतता तथा सकारात्मक भावना, खेत जोतने, खाद ड़ालने तथा खेतों को सिंचने जैसा है ताकि उसमें बीज बोयें जा सकें और फसल उगाई जा सकें।

अगला चरण, **आध्यात्मिक मृत्यु** जिसका प्रत्यक्ष संबंध इन धर्म नियम प्रक्रियाँओं को विकसित करने से है -- वास्तव में बीजों के बोयें जाने से। वास्तविकता के अपने स्वरुप के विषय में और विशेषतः हम स्वयं कौन और क्या है, इस विषय में हमारी जो गलतफहमीयाँ होती है उन्हें भेदकर उनके आरपार देखने की ओर इस चरण का ध्यान केंद्रित होता है। आध्यात्मिक मृत्यु का अर्थ है हमारी उन भ्रांतियों को आर पार भेदकर देखना जिनके हम अभ्यस्त हो चुके होते है, हमारे अनुभवों को स्वयंचलित रुप से कुछ और ही समझने के आदी : अनित्य को नित्य के रुप में देखने के; जो काल्पनिक है उसे वास्तव के रुप में देखने के; आँख मूंदकर ऐसी बातों पर विश्वास करने के कि यदि उन्हें चिरकाल तक वास्तविक एवं स्थायी सुख देनेवाले स्त्रोत मानकर उनसे आसक्त हुआ जाए तो वह वास्तव में दुखः ही लेकर आती है; और उन चीजों के आकर्षक एवं मोहक प्रतीत होने के जो उच्चतम परिपेक्ष से देखने पर विकर्षक, घृणाजनक या फिर घिनौनी होती है --'विपर्यासों' के बंधन में जख़डे होने के, 'उल्टे-पुल्टे' दृष्टीकोणों के। यह दृष्टीकोण हमारे लिए अपनी इस परिस्थिती की वास्तविकता को देखने में बाधा उत्पन्न करते कि वास्तव में सब कुछ अनित्य तथा अवास्तविक है और साथ ही यह भी कि संस्कारित वस्तुओं की किसी भी विशिष्ट रचना में सच्चा सुख नहीं पाया जा सकता है --अर्थात **लक्षणों** को पहचान पाना। जब तक हम वास्तविकता को कुछ का कुछ समझते रहते है और उसी के आधार पर कृती, संवाद तथा सोच विचार करना जारी रखते है तब तक ऐसी परिस्थितीयाँ अस्तित्व में नहीं आती जिनमें कि धर्म नियम प्रक्रियाँए प्रकट हो सकें। ज्यों ही हम अपने आपको कुछ हद तक इन भ्रांतियों से छुटकारा दिलाते है उसी समय से धम्म-प्रवाह प्रवाहित होने लगता है।

इन सब से उपर आध्यात्मिक मृत्यु का अर्थ है मृत्यु को प्राप्त करना, अपने स्वयं के विषय में हमने जो भ्रम बना रखे है उन्हें शिथिल करने तथा अपनी आत्म-केंद्रित आसक्ति का त्याग करने के अर्थ से -- इस बात को स्वीकार करते हुए कि ऐसी आसक्ती मनोवैज्ञानिक बाधा स्वरुप, नैतिकता की दृष्टी से किये गये समझौते स्वरुप तथा सबसे अधिक मूलभूत रुप में एक मायावी अस्तित्व स्वरुप है। मुख्य रुप से इस चरण का अभ्यास वास्तविकता के सत्य स्वरुप पर चिंतन करने के द्वारा किया जाता है, विषेशतः **लक्षणों** पर किये जाने वाले चिंतन के द्वारा और ऐसे स्वार्थरहित कार्यों के द्वारा जो कि आत्म-आसक्ति के स्थायीत्व को नष्ट कर दें।

एक बार जब एक स्वतंत्र तथा चिरस्थयी आत्म के होने का भ्रम कम हो जाता है तब धर्म नियम की आत्म-भाव विरहित प्रवृत्तीयों का उत्पन्न होना आरंभ हो जाता है और **आध्यात्मिक पुनर्जन्म** के चरण का यह कार्य होता है कि वह उन्हें विकसित होने की अनुमती प्रदान करें उसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करें। विशेषतः बुद्धों तथा बोधिसत्वों द्वारा सन्निहित धर्म नियम प्रक्रियाओं के साथ अधिक से अधिक गंभीर रुप से काल्पनिक संबंध स्थापित करने के माध्यम से तथा स्वयं के संकुचित आत्म स्वार्थ पर निर्भर रहने के स्थान

पर धर्म को ही एक जिवित वास्तविकता के स्वरुप में देखकर उसके निर्देशों पर निर्भर रहना सिखने के माध्यम से ऐसा किया जा सकता है।

महायान के पाँच प्रमुख मार्गों के प्रतिपादन में, पाँचवे तथा अंतिम मार्ग के विषय में विभिन्न प्रकार से जिक्र किया जाता है। जैसे कि 'ना किसी और अधिक शिक्षा/प्रयास/अभ्यास' के चरण के तौर पर या फिर 'सहज करूणार्द्र कृती' के चरण के तौर पर। अपने 'सिस्टम् आफ् मेडिटेशन्' अर्थात 'ध्यान-प्रणाली' में संघरक्षित इसके अनुरुप किसी चरण को प्रस्तुत नहीं करते, परंतु वे केवल-बैठने के ध्यान के विषय में अवश्य ही बात करते है जो कि स्पष्ट रुप से निचले स्तर पर इस उच्चतम चरण से ही संबंधीत है। संघरक्षित की प्रणाली में प्रस्तुत केवल-बैठने के ध्यान का अभ्यास, चार चरणों में से प्रत्येक चरण के साथ जुड़े हुए एक ध्यान-अभ्यास के बीच का संतुलन बनाये रखने से संबंधीत है। इस प्रकार के ध्यान-अभ्यास को करने के लिए सचेत, सक्रिय प्रयासों की आवश्यता होती है जिन्हें ग्रहणशील स्वभाव के द्वारा संतुलित किया जाना चाहिये, और यहीं केवल-बैठने के ध्यान का कार्य होता है। केवल-बैठने के ध्यान को अपनी सर्वोच्च ऊचाँई पर संघरक्षित की प्रणाली की परिणती के अर्थ से देखा जाना भी उतना ही संभव है, उस पाँचवे मार्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए जिसका अनुसरण स्वयं बुद्धों द्वारा किया जाता है -- भले ही, निश्चित ही यह एक 'दुर्गम' मार्ग है। पाँच प्रमुख मार्गों की प्रणाली में, इस अंतिम चरण का वर्णन नकारात्मक शब्दों की सहायता से किया गया है जैसे कि 'ना किसी और अधिक शिक्षा/प्रयास/अभ्यास' का चरण। जिन्होंने परिणामकारक शरण-गमण किया है उनके लिए यह आवश्यक है कि वे कर्म नियम के अंतर्गत लगातार प्रयास करते रहें अन्यथा उन्होंने जो भी विकास किया है, वहाँ से वह पिछे जा सकते है, यह भी संभव है कि उनका मार्ग से संबंध पूर्णतः ही टूट जाये। तथापि, अगर इस बात को यथार्थ रुप से ना कहा जाए तो एक स्त्रोतापन्न व्यक्ती को किसी भी प्रकार के प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वस्तुओं के वास्तविक स्वरुप के विषय की अन्तर्दृष्टी की ताकत ही हठ से अपने आप ही उन्हें बुद्धत्व तक ले जाती है, परंपरा कहती है कि सात जन्मों के भीतर ही। परंतु एक बार जब 'ना किसी और अधिक अभ्यास' का चरण स्वयं बुद्धत्व तक पहुँच जाता है तब कर्म नियम के अंतर्गत प्रयास करना अनावश्यक हो जाता है क्योंकि तब उस समय से किसी भी कर्म के अवशष से खंडित हुए बिना धम्म प्रवाह अपने आपको प्रकट करता है।

बात केवल इतनी ही नहीं कि इस चरण में कर्म-प्रयासों कि आवश्यकता नहीं होती बल्कि उनके किये जाने की संभावना ही शेष नहीं रह जाती क्योंकि जिन संस्कारों के कारण कर्म घटित होता है वे ही अब उपस्थित नहीं होते : आत्म के कर्ता होने का अहसास भी नहीं रहता -- कोई ऐसा भी कह सकता है कि अब प्रयास करने या ना करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। अब एक स्वतंत्र, चिरस्थायी आत्म के होने का किंचित भी अहसास नहीं होता, केवल धर्म नियम के स्तर पर शुद्ध रुप से प्रकट होना ही शेष होता है। इस तरह से 'सहज करूणार्द्र कृती' जैसे सकारात्मक शब्दों में भी इस चरण के विषय में बात की जाती है। इच्छाए या संकल्प होते है परंतु उनमें आत्म-आसक्ति का जरा भी लेश नहीं होता। ऐसी इच्छाए होती है जो प्राप्त परिस्थिती की जरूरतों के अनुरुप, सृजक प्रतिसाद के रुप में सहज ही उत्पन्न हो जाती है। यह

बोधिचित्त होता है, यहाँ पर इस अर्थ से नहीं कि एक चेतना जो कि **बोधि** से प्ररित है बल्कि इस अर्थ से कि एक चेतना जो कि स्वयं ही **बोधि** है।

अब हम इस ओर देखना आरंभ कर सकते है कि इस समूची प्रणाली में दीक्षा-संस्कार किस जगह फिट बैठता है। जब कोई व्यक्ती त्रिरत्नों को परिणामकारक रुप से शरण-गमण करता है तब वह कर्म एवं धर्म नियम प्रक्रियाँओं, के अंतर्गत कार्य कर, बुद्धत्व की प्राप्ती हेतु स्वयं को प्रतिज्ञाबद्ध करता है -- और इस बात पर विशेष जोर देना आवश्यक है कि यह प्रतिज्ञाबद्धता कर्म एवं धर्म नियम इन **दोनों ही** प्रक्रियाँओं के संच के अंतर्गत कार्य करने की होती है। यही बात त्रिरत्नों को किये गये शरण-गमण को सर्वसामान्य स्वरुप की भलाई तथा इन्सानियत से अलग करती है -- बेशक यह दोनों ही गुण अति वांछनिय तथा योग्य भी है। सभी सदाचारी लोग कर्म की उर्जाओं के साथ कार्य करते है, चाहे वह आदतन हो, उनके लालन-पालन के कारण हो या फिर चेतन रुप सें सदाचार के विषय में बनी उनकी आस्था के कारण हो। मज़हब या फिर मनश्चिकित्सा में जो कुछ भी सबसे उत्कृष्ट है वह लोगों को कुशल नैतिकता के अभिकर्ता बननें हेतु सहायता प्रदान करने से संबंधीत है। जब संस्कृती स्वस्थ होती है और शिक्षा प्रणाली अच्छी तरह से कार्यरत होती है तो वह नैतिक जिम्मेदारी की भावना को सुदृढ़ करती है, विशेषतः मानवीय सहानुभुती की भावना के विस्तार द्वारा। एक अच्छा तथा न्याययुक्त समाज वही होता है जो कर्म में सन्निहित सभी श्रेष्ठ तत्वों के अनुसार कार्य करता है।

यह सारी की सारी बातें बेहद महत्वपूर्ण है और इनका मजबूती से समर्थन एवं अनुमोदन किया जाना आवश्यक है। लोगों को सर्वसामान्य रुप से इस बात के लिये प्रेरित किये जाने की आवश्यकता है कि वे यह भाव विकसित कर सकें वे इस ब्रम्हांड के भीतर नैतिकता के अभिकर्ता है जहाँ कर्मों का, कर्ता को तथा अन्य लोगों को समानुपात में परिणाम भुगतना पड़ता है। लोगों के लिए इस बात को जानना आवश्यक है कि उनकी अपनी खुशी और संतुष्टी कुशल कर्म करने पर आधारित है। दूसरें शब्दों में, इस बात की आवश्यकता है कि उन्हें एकीकृतता तथा सकारात्मक भावना के चरण का अभ्यास करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। परंतु इसकी तुलना त्रिरत्नों को किये जाने वाले शरण-गमण के साथ नहीं की जा सकती है -- या अपनी सर्वोत्कृष्टता में यह सांस्कृतिक शरण-गमण को प्रतिबिंबित करता है : जो शरण-गमण धम्म से प्रभावित तो है उसके प्रति प्रतिज्ञाबद्ध नहीं है।

त्रिरत्नों को किया गया तात्कालिक शरण-गमण उस वक्त अस्तित्व में आता है जब धर्म नियम प्रक्रियाँओं की कम से कम एक झलक दिखाई दे जाती है -- कुछ समय के लिए व्यक्ती को यह अनुभुती होती है कि वास्तविकता के अंतर्गत ऐसे कुछ एक प्रवाह उपस्थित है जो उसे आत्म-आसक्ति से परें ले जाकर बुद्धत्व की ओर लेकर जा सकते है। जब व्यक्ती **आश्वस्त** हो जाता है कि ऐसा प्रवाह है, और जब वह इस बात के लिए मानसिक स्तर पर एकीकृत हो जाता है कि वह अपनी समस्त उर्जा उसकी सेवा में अर्पित कर दें, तब वह त्रिरत्नों को शरण-गमण करता है और उसकी वह प्रतिज्ञाबद्धता परिणामकारक होती है, कम से क

म इस हद तक कि वह नियमित गती से एवं धीरे-धीरे विकसित होता हुआ मार्ग पर आगे मार्गक्रमण

करता रहेगा। अभी भी व्यक्ती को इस बात की आवश्यकता होती है कि वह एकीकृत होने की प्रक्रिया को पूरा करें तथा सकारात्मक भावनाओं को विकसित करनें में भी निरंतरता को बरकरार रखे -- या फिर, हो सके तो कदाचित, और भी अधिक कुशल ऐसी भावनाओं को विकसित करें। तथापि, जो बात इसके त्रिरत्नों को किए गये परिणामकारक शरण-गमण हाने की ओर विशिष्ट रुप से संकेत करती है, वह है आध्यात्मिक मृत्यु एवं पुनर्जन्म के चरणों पर कार्य करने की व्यक्ती की प्रतिज्ञाबद्धता एवं किया गया कार्य।

यह सब खुद दीक्षा-संस्कार समारोह के लिए भी महत्वपूर्ण है। अपने उपाध्याय को साक्षी रखकर शरण-गमण के सूत्रों का पठन करतें हुए त्रिरत्नों को शरण-गमण करने की कृती ही इस दीक्षा-संस्कार समारोह का सारतत्व है, इस प्रकार से विधी संस्कारों के साथ व्यक्ती का अपनी प्रतिज्ञाबद्धता को अपने भीतर सन्निहित करना। परंतु जो इस प्रतिज्ञाबद्धता की विशिष्ट बात है, वह है इसमें अंतर्निदिष्ट आध्यात्मिक मृत्यु एवं आध्यात्मिक पुनर्जन्म के अभ्यास को परिणामकारक रुप से आचरण में लाना। हम इस ओर बाद में देखेंगे की दीक्षा के धार्मिक विधी संस्कार को जिस प्रकार से समझा तथा निभाया जाता है उसमें कुछ परिष्कार के द्वारा उपरोक्त बातों को दीक्षा-संस्कार समारोह में समाविष्ट किये जाने को देखने की इच्छा संघरक्षितजी की है। परंतु वर्तमान में संघरक्षित दीक्षा-संस्कार समारोह को किस प्रकार से देखते है इस बात की संपूर्ण प्रस्तुती के लिए अपने आपको तैयार करने से पूर्व एक और प्रमुख परिपेक्ष्य पर अण्वेषण करना हमारे लिए अनिवार्य है। संघरक्षित की आध्यात्मिक-जीवन प्रणाली के समस्तरीय पहलू की ओर देखना हमारे लिए आवश्यक है, क्योंकि दीक्षा-संस्कार को समझने एवं निभाये जाने की प्रक्रिया में इसे समाविष्ट करना भी अनिवार्य है।

आध्यात्मिक-जीवन प्रणाली

अब तक हमनें दीक्षा-संस्कार समारोह की ओर एक पदानुक्रमिक चरणों की प्रणाली के रुप में देखा, सर्वप्रथम जिसका ध्यान-प्रणाली के रुप में अर्थ प्रतिपादित किया गया था, परंतु यहाँ इसके तात्पर्य को आध्यात्मिक जीवन से जुड़े हर पहलू को समाविष्ट कर समझा जा रहा है, ध्यान के भीतर के भी तथा ध्यान के बाहर के भी। संघरक्षित इस प्रकार से देखते है कि इस प्रणाली के घटक ना केवल पदानुक्रमिक तथा अनुक्रमिक रचना में है बल्कि वे एक ही समय में समान रुप से उपस्थित भी है -- ना केवल उर्ध्वगामी रुप से बल्कि समस्तरीय रुप से भी। इन्हें धम्म जीवन के हर चरण में प्रमुख घटकों के रुप में देखा जा सकता है, एकीकृतता के चरण से लेकर आध्यात्मिक पुनर्जन्म के चरण तक -- एक आरंभकर्ता के अभ्यास में भी तथा एक बुद्ध की गतीविधी में भी। यह बात निश्चित है कि यदि निचले स्तर पर इनका अभ्यास ना किया गया हो तो उच्च स्तर पर पूरी सफलता के साथ इनसे संलग्न होना असंभव है। इसलिए व्यक्ती के लिए यह अनिवार्य है कि वह, त्रिरत्नों को किए गये शरण-गमण के हर चरण में, फिर चाहे वह तात्कालिक शरण-गमण हो, परिणामकारक शरण-गमण हो या फिर वास्तविक शरण-गमण का चरण हो -- एकीकृतता, सकारात्मक भावना, आध्यात्मिक मृत्यु तथा आध्यात्मिक पुनर्जन्म का अभ्यास करता रहें। इन सब के साथ एक

पाँचवे घटक को जोड़ना आवश्यक है, समस्तरीय-प्रणाली की क्षैतिज अक्ष रेखा पर उर्ध्वगामी-प्रणाली की उर्ध्वाधर अक्ष रेखा के अंतिम चरण के साथ सहसंबंध प्रदर्शित करने वाला घटक। 'ना किसी और अधिक प्रयास' या 'सहज करूणार्द्र कृती' का उर्ध्वाधर चरण आध्यात्मिक ग्रहणशीलता के समस्तरीय पहलू के साथ पारस्परिक सहसंबंध प्रदर्शित करता है, जैसे की केवल-बैठने के ध्यान के संदर्भ में संघरक्षित इस घटक के विषय में चर्चा करते है।

ना किसी और अधिक प्रयास की आवश्यकता/ सहज करूणार्द्र कृती

आध्यात्मिक पुनर्जन्म
आध्यात्मिक मृत्यु
सकारात्मक भावना
एकीकृतता

एकीकृतता * सकारात्मक भावना * आध्यात्मिक ग्रहणशीलता * आध्यात्मिक मृत्यु * आध्यात्मिक पुनर्जन्म

आकृती १ : आध्यात्मिक-जीवन प्रणाली उर्ध्वगामी एवं समस्तरीय 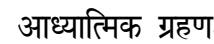

हमारे अभ्यास के हर चरण में तथा हमारे जीवन की सारी ही गतीविधियों में इन पाँचों घटकों में से प्रत्येक का सम्मिलित होना अनिवार्य है : एकीकृतता, सकारात्मक भावना, आध्यात्मिक ग्रहणशीलता, आध्यात्मिक मृत्यु तथा आध्यात्मिक पुनर्जन्म। प्रत्येक चरण में इसमें से प्रत्येक पहलू के अभ्यास का स्वरुप भिन्न होगा : उच्चतम चरणों में इन पहलूओं के आचरण के संबंध में गंभीरता होगी, कोई ऐसा भी कह सकता है कि व्यक्ती वास्तविक रुप से इनका आचरण तभी आरंभ कर पाता है जब उसके द्‌वारा किया गया शरण-गमण भी वास्तविक स्तर का हो तथा धर्म नियम संस्कारितता उसमें प्रबल हो चुकी हों। दीक्षा-संस्कार समारोह में समस्तरीय पहलूओं में से प्रत्येक पहलू, अपने महत्व के एक नये आयाम को प्राप्त करता हैं तथा इस समारोह में उन पहलूओं का और भी अधिक गंभीरता पूर्वक अभ्यास किये जाने की प्रतिबद्धता अंतर्निहित है -- दीक्षा-संस्कार को ग्रहण करने की तैयारी की प्रक्रिया में इस बात का स्पष्ट रुप से व्यक्त होना आवश्यक है और एक बार दीक्षा ग्रहण करने का संस्कार संपन्न हो जाने के उपरांत, उपाध्याय तथा वह व्यक्ती जिसे उन्होनें दीक्षा प्रदान की है, इन दोनों के बीच के आपसी संबंधो में यह तत्व प्रमुख होना चाहिए। तद्‌नुसार,

हमें संक्षेप में यह देखने की आवश्यकता है कि इन में से प्रत्येक पहलू का अर्थ क्या है तथा परिणामकारक शरण-गमण और स्वयं दीक्षा-संस्कार समारोह के साथ यह किस प्रकार से संबंधीत है।

आध्यात्मिक जीवन के एक पहलू के रुप में **एकीकृतता** का संबंध जागृती के चार आयामों की गंभीरतापूर्वक की गयी जाँच के विषय में स्मृती को बरकरार रखने तथा उनके प्रति सचेत रहने से है। जागृती के इन चार आयामों का वर्णन संघरक्षित ने **सम्यक स्मृती** को प्रस्तुत करते हुए किया है जैसे कि : स्वयं की जागृती, अन्य लोगों के प्रति की जागृती तथा वास्तविकता के प्रति की जागृती। आरंभ में, एकीकृतता प्रबल रुप से मनोवैज्ञानिक तथा नैतिकता से संबंधीत बात होती है : अपनी आंतरिक प्रक्रियाँओं को तथा बाह्य कर्मों को पूर्ण रुप से स्वीकृती प्रदान करते हुए अपने मन पर तथा साथ ही आस पास की दुनिया पर उनका जो प्रभाव होता है, उसकी जिम्मेदारी को लेना। इस चरण में स्वयं के एक जिम्मेदार नैतिक अभिकर्ता होने के आधार पर, व्यक्ती का समस्त ध्यान कर्म संस्कारितता को पहचाननें तथा उस पर कार्य करने की ओर होता है।

एक बार परिणामकारक रुप से शरण-गमण कर लेने पर व्यक्ती और भी गंभीरता पूर्वक जागृती का अभ्यास करने लगता है, उसका ध्यान जिस वस्तु की ओर भी केंद्रीत है उसके वास्तविक स्वरुप के विषय में निरंतर जागृत रहने के प्रयाय में : उस वस्तु को इस प्रकार देखते हुए कि वह अनित्य है, मिथ्या है तथा स्थायी रुप से सुख प्रदान करने में असक्षम हैं। खास तौर पर व्यक्ती के लिए यह जानना आवश्यक होता है कि जो कुछ भी उत्पन्न हो रहा होता है, वह 'ना तो मैं हूँ, ना ही मेरा हैं, ना ही मेरा आत्म हैं'। परंतु यह निश्चित ही आवश्यक नहीं की इस प्रकार की जागृती विलगाव या विमुखता जैसी हो -- जैसे कि किसी अस्वास्थकर कारण के लिए स्वयं को अपने अनुभवों से पृथक कर दिया जाता है : इस प्रकार के चिंतन में बहुत आगे तक बढ़ जाने का खतरा मोल लेने से पहले व्यक्ती की जागृती का पर्याप्त रुप से एकीकृत होना आवश्यक है। यह आध्यात्मिक मृत्यु के स्तर पर एकीकृतता को विकसित किये जाने का प्रतिनिधित्व करता है।

आध्यात्मिक पुनर्जन्म के स्तर पर एकीकृतता का अभ्यास धम्म के व्यापक संदर्भ के विषय में निरंतर जागृत रहकर किया जाता है, आत्म-आसक्ति से उपर उठने के संदर्भ में भी तथा वास्तविकता के मध्य से बुद्धत्व की दिशा में बढ़ते प्रवाह के संदर्भ में भी। अगर कोई परिणामकारक रुप से शरण-गमण कर रहा है तो बुद्ध, धम्म तथा संघ कभी भी उस व्यक्ती की जागृती से अधिक दूर नहीं होंगे और तेजी से उसमें सम्मिलित होते जायेंगे।

अगर कोई एकीकृतता के आरंभिक, मनोवैज्ञानिक एवं मानसिक, चरणों में उसका अभ्यास ना कर रहा हो तो, बाद में आध्यात्मिक मृत्यु तथा आध्यात्मिक पुनर्जन्म के चरणों में एकीकृतता को विकसित करने में वह सक्षम नहीं होता। धम्म की प्रभावशाली प्रस्तुती आरंभकर्ताओं को पहले ही एकीकृतता के तत्व से परिचित कराती है, और फिर उसके उपरांत, प्रत्येक व्यक्ती के लिए यह संभव होना चाहिए कि वह अपने कल्याणमित्रों एवं अन्य गुरूओं के मार्गदर्शन में, अपनी स्वयं की जरुरतों, दिलचस्पीओं तथा प्राप्त अवसरों के

अनुसार अपनी एकीकृतता के अनुभव में गंभीरता ला सकें। इस चरण में सफलता हासिल करने में महत्वपूर्ण घटक होगा अपने आपको ऐसी परिस्थितीयों के संपर्क में लाना जो व्यक्ती के प्रयासों का समर्थन करें, विशेषतः व्यक्ती के सामाजिक परिवेश के संदर्भ में तथा ऐसी गतिविधिओं में अपने आपको उलझा लेने से जो कि उस व्यक्ती की आकांक्षाओं के अनुरुप हो।

सकारात्मक भावना के पहलू में कुशल मानसिक अवस्थायें तथा उन अवस्थाओं में प्रवाहित होने वाले कार्यो को विकसित करना शामिल है। आरंभिक चरणों में इसका अभ्यास, पंचशीलों में समाविष्ट, नैतिकता के सिद्धांतो के बारे में सीखने से और उन्हें व्यवहार में किस प्रकार से लागू किया जा सकता है इसकी खोज़-बीन करने के माध्यम से किया जाता है। इसके लिए यह आवश्यक होता है कि जो मानसिक अवस्थायें कुशल कृतियों की आधारभूत होती है, व्यक्ती उनका पालन-पोषण करें, विशेषतः **मैत्री** तथा अन्य **ब्रम्हविहारों** का और साथ ही त्रिरत्नों के प्रति श्रद्धा एवं समर्पण के भाव का। आध्यात्मिक मैत्री का विकास तथा संघ में सहभाग इस चरण के महत्वपूर्ण पहलू है, खासकर अपने आपको जितना संभव हो उतना आध्यात्मिक-समुदाय की संस्थाओं और गतिविधियों में शामिल करने के माध्यम से।

व्यक्ती के परिणामकारक रुप से शरण-गमण करने पर सकारात्मक भावना एक नया आयाम धारण कर लेती है। मैत्री आत्म-आसक्ति से उपर उठने के लिए किये जाने वाले भरकस प्रयासों का माध्यम बन जाती है, पहले अपने आपको दूसरों के बराबर रुप में देखकर और फिर मैत्री को एक परा-व्यक्तिगत उर्जा के रुप में देखकर उसके आगे स्वयं के आत्म-भाव को समर्पित कर देने से। दूसरें शब्दों में व्यक्ती **बोधिचित्त** का विकास करना आरंभ कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ती का यह अहसास लगातार बढ़ता जाता है कि वह एसी किसी चीज की सेवा कर रहा है जो कि अपरिमित रुप से उसके अपने दायरें से कई परें की है, जो बात अक्सर धम्म के प्रचार-प्रसार के कार्य के रुप में सन्निहित होती है -- कई संघ-सदस्यों के लिए यह त्रिरत्न बौद्ध महासंघ, जो कि एक सामूहिक प्रकल्प है, के लिए काम करने का स्वरुप धारण कर लेता है। व्यक्ती में धम्म क प्रति कर्तव्य का ऐसा भाव विकसित होने लगता है जिसे वह अपनी व्यक्तिगत पसंद तथा नापसंद से कई गुणा अधिक सम्मोहक रुप से महसूस करने लगता है।

आध्यात्मिक ग्रहणशीलता शायद इन पाँचों पहलूओं मे से वह एकमात्र पहलू है जिसके विषय में सर्वाधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है, क्योंकि इस संदर्भ में इसका इतने स्पष्ट रुप से कभी भी अवलोकन नहीं किया गया है। यह अनिवार्य रुप से संस्कारितता की निरंतर विकसनशील प्रवृत्तीयों के प्रति खुलापन रखने से संबंधीत है, फिर चाहे यह प्रवृत्तीयाँ स्वयं के भीतर निर्मित हो रही हो या फिर अपने इर्द-गिर्द की दुनियाँ में। वह व्यक्ती जो आध्यात्मिक रुप से ग्रहणशील होता है वह नैतिक सत्प्रवृत्ती को, शुद्ध तथा परिष्कृत मानसिक अवस्थाओं को तथा ऐसी अंतर्दृष्टी या अनुभव जो आत्म-आसक्ति की भावना के परें के होते है, उन्हें अनुकुल प्रतिक्रिया देता है। जो भी व्यक्ती, प्रतिक, छवियाँ या शिक्षापद प्रगतीशील प्रवृत्ती को साकार स्वरुप या उदाहरण स्वरुप प्रस्तुत करते है, वे व्यक्ती में प्रत्युत्तर स्वरुप प्रशंसा, श्रद्धा तथा अनुसरण के भाव को जगाते

है-- बाहर के उन आदर्शों का सामना होने पर व्यक्ती के भीतर के कुछ मे एक गुंजायमान ध्वनि उत्पन्न हो जाती है।

ठीक इसी तरह से, प्रगतीशील संस्कारितता के फलस्वरुप जो आवेग तथा अनुभव उत्पन्न होते है, उनसे आसक्त हुए बिना, व्यक्ती उन्हें महत्व देता है और हृदय में संजोए रखता है। उदाहरणार्थ, कुशल कर्म व्यक्ती में एक प्रकार की संतुष्टी एवं आत्मविश्वास के भाव को जगाते है और व्यक्ती यह भी देख सकता है कि उसके जीवन जीने की पद्धती में एक प्रकार की सहजता आ गई है। कर्म के इस **पुण्य** या 'लाभ' को वह जो है, उसे उसी तरह स्वीकार किया जाना चाहिए और आगे किए जाने वाले नैतिक प्रयासों के लिए एक प्रेरणा के रुप में इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार से, ध्यान अभ्यास के दौरान जब व्यक्ती को कुछ हद तक **ध्यान** या फिर अन्य **समापत्ती** या फिर सकारात्मक ऐसे अनुभव आते है तो वह उनको अपने प्रयत्नों के फल के स्वरुप में मान्यता प्रदान करता है तथा संस्कारितता में प्रगतीशीलता का चलन होने की भी पुष्टी करता है। अंतिमतः, धर्म नियम प्रक्रियाँओं के फलस्वरुप प्राप्त, आत्म-आसक्ति से उपर उठने के वास्तविक अनुभव को अंतकरणपूर्वक आलिंगनबद्ध कर, व्यक्ती उस विकसनशील प्रवाह के समक्ष स्वयं को पूर्णतया समर्पित कर देता है।

यहाँ पर जिस बात पर कार्य करना हमारे लिए आवश्यक होता है, वह है हमारी प्रतिसंवेदी **क्षमता**। आध्यात्मिक ग्रहणशीलता का विकास सजगतापूर्वक करने की आवश्यकता हमें इसलिए होती है क्योंकि हमारे असतित्व की अंतर्निहित संभावनाओं के तौर पर जो बाते वास्तव में महत्वपूर्ण होती है उन्हें प्रतिसाद देने की हमारी नैसर्गिक क्षमता के विषय में अक्सर हम अनभिज्ञ होते है। आमतौर पर ऐसा प्रतित होता है कि हमारी अंतप्रेरणायें तथा भावनायें, हमारी पसंद तथा नापसंद, जो कभी कभी हमारे तर्कों से भी प्रभावित होती है, यही हमारे भीतर स्थित हमें अभिप्रेरित करने वाली एकमात्र शक्ती होती है, परंतु हमारे पास एक अन्य तथा अधिक अविभाज्य आंतरिक ऐसी शक्ती होती है जो कि सर्वसामान्य जीवन में स्थापित तादाद को प्रतिक्रिया देने के चलन के स्थान पर गुणों को प्रत्युत्तर देती है। अपने संपर्क तथा मित्रता, सौंदर्य या कला को हमारे द्वारा दिये जाने वाले प्रतिसाद में और किसी महान या प्रेरक उदाहरण के हम पर होने वाले प्रभाव में इस आंतरिक शक्ती की क्रियान्विततता को हम महसूस कर सकते है। जैसे कि मैनें 'बुद्ध की पुनः कल्पना' इस लेख में इस बात की चर्चा की है कि चाहे वह सौंदर्य, प्रामाणिकता या फिर भलाई के संदर्भ में हो गुणों को प्रतिसाद देने वाली इस आंतरिक शक्ती को हम 'कल्पना-शक्ती' या 'रचनात्मक कल्पना करने की आंतरिक शक्ती' के रुप में पहचान सकते है। आध्यात्मिक ग्रहणशीलता को विकसित करने हेतु व्यक्ती इसी आंतरिक शक्ती को पहचानना तथा क्रियान्वित करना सीख रहा होता है।

अपने प्रवचन 'सिस्टम ऑफ मेडिटेशन' में संघरक्षित 'केवल-बैठने' के ध्यान के विषय में बात करते हुए कहते है कि इस ध्यान-प्रणाली के हर चरण का प्रतिनिधित्व करने वाले जो अन्य ध्यान-अभ्यास है उनके बीच संतुलन बनाये रखने का कार्य यह ध्यान करता है।

और इन अन्य सभी ध्यान-अभ्यासों में जागृती पूर्वक प्रयास करने की आवश्यकता होती है। परंतु व्यक्ती के लिए यह जरूरी है कि यह प्रयास अधिक ज़ोर लगाकर ना किये गए हो, ना ही उसने अपनी पूरी इच्छाशक्ती इसी में लगा देनी है, और इसी प्रकार की प्रवृत्ती को निष्प्रभावी करने हेतु हम केवल-बैठने का अभ्यास कर सकते है।

उनका कहना है कि सजगता पूर्वक किये गए प्रयासों को 'निष्क्रियता,ग्रहणशीलता' के माध्यम से प्रतिसंतुलित किया जा सकता है। केवल-बैठना यानी एक ऐसे स्थान को खुलकर प्रकट होने की अनुमती देना कि जहाँ पर सारे प्रयत्नों को स्थगित कर दिया गया हो और जहाँ से ऐसा नया कुछ उत्पन्न होता हो जो कि अनदेखा हो, जिसकी कभी भी पूर्व कल्पना ना की गयी हो। क्योंकि संस्कारितता की जो प्रगतीशील प्रवृत्ती है वह हरदम ही अपने से बढ़कर तथा अपने से उच्चतर ऐसी किसी बात को जन्म देती है और इसलिए निश्चित ही जो उत्पन्न होता है वह अकल्पनीय होता है। कुछ होने की उम्मीद किये बिना चुपचाप बैठे रहना, जो हो रहा है उसे केवल देखते रहना तथा उसे जकड़ने या उससे दूर भागने का प्रयास किए बिना उसे स्वीकृती प्रदान करना ही इस अभ्यास का सारतत्व है तथा यही आध्यात्मिक ग्रहणशीलता का मूल अभ्यास भी है। इसे सर्वसाधारण रुप से ध्यान की बैठक में बैठकर भी किया जा सकता है और एक कुर्सी पर आराम से बैठकर, कुछ ना करते हुए भी। संघरक्षित बोरियत के महत्व के विषय में भी बात करते है, क्योंकि सहजता से कार्यमग्नता के आभाव के होने को स्वीकृती प्रदान करते हुए बस राह देखते रहना ही गहरी प्रक्रियाओं के प्रकट होने का आधार होता है।

जब तक किसी व्यक्ती की दीक्षा का संस्कार संपन्न हो तब तक संस्कारितता की प्रगतिशील प्रवृत्ती को प्रत्युत्तर देने की उसकी प्राकृतिक क्षमता को उसके अनुभवों का अविभाज्य घटक बन जाना चाहिए तथा उस क्षमता की ओर आध्यात्मिक जीवन को जीने के साधन के रुप में देखा जाना चाहिए। प्रतिदिन के व्यवहार में भी इस क्षमता को भरपूर महत्व दिया जाना चाहिए और निश्चित ही आध्यात्मिक-आचरण प्रणाली के अन्य सभी पहलूओं में भी एक प्रमुख मार्गदर्शक तत्व के रुप में इसकी उपस्थिती होनी चाहिए, जहाँ आध्यात्मिक-आचरण प्रणाली का हर पहलू, अपने स्वयं के दायरें में, खुद भी आध्यात्मिक ग्रहणशीलता को विकसित करता है।

पदानुक्रमिक प्रणाली के एक चरण के रुप में आध्यात्मिक मृत्यु, परिणामकारक शरण-गमण से वास्तविक शरण-गमण में हो रहें स्थित्यांतरण को दर्शाता है। क्योंकि धर्म नियम प्रक्रियाँए व्यक्ती के भीतर की उसे प्रवृत्त करने वाली प्रबल उर्जाए बन जाती है, इस कारण एक चिरस्थायी तथा स्वतंत्र आत्म के भ्रम को भेदकर देखने के आधार पर वह व्यक्ती धम्म के प्रवाह में प्रवेश कर जाता है। परंतु अगर आध्यात्मिक-आचरण के इस पहलू पर आरंभ से ही भरपूर कार्य ना किया गया हो तो सहसा व्यक्ती के लिए इस प्रकार का स्थित्यांतरण सहज नहीं होता।

प्रथम बार धर्म के संपर्क में आने के समय से ही व्यक्ती के लिए यह आवश्यक होता है कि वह वास्तविकता के स्वभाव के विषय में धर्म के परिपेक्ष्य को जाने, विषेश रुप से प्रतित्य समुत्पाद की प्रतिक्रियाकारी एवं सृजनकारी प्रणाली के संदर्भ में और साथ ही **पाँच नियमों** तथा **तीन लक्षणों** में उसकी अभिव्यक्ती के संदर्भ में। परंतु व्यक्ती को इस बात पर चिंतन करते रहने की आवश्यकता होती है कि उपराक्त बातें उसके अपने जीवन पर किस प्रकार से लागू होती है। कई बार यह चिंतन, व्यक्ती के स्वयं के असतित्व को ही गंभीरतापूर्वक प्रभावित करने वाली बातों पर सहजता एवं उत्स्फूर्तता से मग्न होने जैसा होता है, परंतु यह भी फायदेमंद होगा कि इस प्रकार के विषयों पर अधिक पद्धतीबद्ध रुप से चिंतन किए जाने को अपने अभ्यास में धीरे-धीरे तथा सावधानीपूर्वक अपनाया जाए। आरंभ करने के लिए अत्यंत उपयुक्त है, स्वयं बुद्ध के द्वारा दी गई यह शिक्षा, 'सभी के द्वारा अक्सर चिंतन किए जाने योग्य पाँच तत्व', जिसे हम अंगुत्तर निकाय के उपजट्ठान सुत्त में देख सकते है :

> चाहे स्त्री हो या पुरुष, गृहस्थ हो या भिक्षु, ऐसे पाँच तथ्य है जिनके विषय में सभी के द्वारा चिंतन किया जाना चाहिए :
>
> 1. 'मैं उम्र बढ़ने के अधिन हूँ : मैं वृद्ध होने वाला हूँ।'
> 2. 'मैं व्याधि के अधिन हूँ : मैं व्याधिग्रस्त होने वाला हूँ।'
> 3. 'मैं मृत्यु के अधिन हूँ : मेरी मृत्यु होने वाली है।'
> 4. 'जो भी मुझे प्रिय है तथा मेरे हृदय के करीब है ऐसी प्रत्येक बात से मेरा वियोग होना निश्चित है'
> 5. 'मैं अपने कर्मों का स्वामी हूँ, अपने कर्मों का वारिस हूँ, कर्म ही वह गर्भ है जिससे मैं उत्पन्न हुआ हूँ, कर्म ही मेरे सहचर है और कर्म ही मेरा संरक्षण भी है। अच्छे या बुरे के लिए, जो भी मैं करता हूँ, उसका मैं उत्तराधिकारी होना वाला हूँ।'

इस प्रकार से किया गया अभ्यास व्यक्ती को निरंतर इस बात का यकिन दिलायेगा की उसे अपने आपको धम्म आचरण के लिए प्रतिज्ञाबद्ध करना ही चाहिए और उसके लिए इसे समझना भी सरल होगा कि दीक्षा-संस्कार का तात्पर्य क्या है -- परिणामकारक शरण-गमण -- और व्यक्ती अंतकरणपूर्वक यह महसूस करेगा कि आगे प्रगती करने के लिए उसे दीक्षा ग्रहण करनी ही चाहिए।

दीक्षा ग्रहण करते वक्त, व्यक्ती पूर्णतया अपने आपको इस बात के लिए प्रतिज्ञाबद्ध करता है कि वह कर्म तथा धर्म नियम प्रक्रियाओं के अनुरुप कार्य करेगा। उसके आचरण के हर अंग में आध्यात्मिक मृत्यु के पहलू का समावेश होना चाहिए। व्यक्ती की प्रतिदिन की ध्यान-साधना, जिसके साथ उसे अपने प्रयत्नों के प्रमुख केंद्रबिंदु स्वरुप प्रतिबद्ध होना चाहिए, उसमें आध्यात्मिक मृत्यु का भरपूर मात्रा में समावेश होना चाहिए। छह धातुओं का अवलोकन, बारा या चौबिस निदानों की श्रृंखला का अवलोकन, तथा छह बार्डों लोको पर चिंतन यह सब ऐसे अभ्यास है जिन्हें करने की सिफ़ारिश संघरक्षित, आध्यात्मिक मृत्यु के अहसास को गहराई तक ले जाने हेतु करते है। विशेष रुप से अत्याधिक गहन शिविरों के दौरान, समय समय पर व्यक्ती को छह

धातुओं के अवलोकन में मग्न हो जाना चाहिए। हालाँकि, तात्विक रुप से देखा जाए तो, किसी भी ध्यान-अभ्यास में यह पहलू उपस्थित हो सकता है और व्यक्तीगत उपाध्याय का यह कर्तव्य होता है कि वह दीक्षा ग्रहण करने वाले प्रत्याशी के साथ मिलकर आपस में यह तय करें कि वे इस पहलू को प्रतिदिन की ध्यान-साधना में किस प्रकार से समाविष्ट कर सकते है -- और उसी तरह से जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी।

आध्यात्मिक मृत्यु का ही प्रतिरुप है **आध्यात्मिक पुनर्जन्म** -- जिसमें व्यक्ती आत्म के होने के अपने भ्रम की मृत्यु को प्राप्त करता है तथा अंतिमतः बुद्धत्व की ओर ले जाने वाली धर्म नियम प्रक्रियाओं के उभरते हुए प्रवाह में पुनः जन्म को प्राप्त करता है। दीक्षा ग्रहण करणे के साथ ही व्यक्ती प्रत्यक्ष रुप से इस चरण पर कार्य करना आरंभ कर देता है -- और यह निश्चित है कि वह यह परिणामकारक रुप से करता है, जहाँ तक कि इसके व्यक्ती की प्रतिदिन की ध्यान-साधना एवं अन्य अभ्यासों का सप्राण हिस्सा बनने का प्रश्न होता है। परंतु बिना पर्याप्त तैयारी के वह यह नहीं कर सकता और इसलिए पुनः एक बार इस पहलू का परिचय भी उसे, उसके धम्म के सानिध्य में आने के आरंभिक चरण में ही प्राप्त हो जाना चाहिए।

अत्याधुनिक संस्कृती में शून्यवाद पर किए जाने वाले ओजपूर्ण कथन के कारण हमारा, स्वयं के सर्वसाधारण अनुभव से श्रेष्ठतर, ऐसी किसी बात के साथ संबंध स्थापित करना विशेषरुप से आवश्यक होता है। ऐसे किसी संबंध के अभाव में हमारे आध्यात्मिक प्रयत्न केवल हमारी अपनी आत्म-आसक्ति की ही परिष्कृति होते है। परंतु इस संबंध को इस तरह से पेश नहीं किया जाना चाहिए जिससे कि किसी अनादी परमेश्वर के होने का या किसी सनातन तत्व के होने की बात का संकेत मिलता हो। हमें ऐसी किसी बात के साथ संबंध स्थापित करने की आवश्यकता है, जो चमत्कारी ना लगते हुए भी दिव्य हों -- जो रहस्यपूर्ण, प्रशंसा से प्रेरित आदरभाव को जगाने वाली तथा उच्चतम अभिलाषा के योग्य तो हो, परंतु जो एक अपरिवर्तनिय तथा गूढ़ अस्तित्व स्वरुप ना हों। स्वयं बुद्ध, तथा साथ ही अन्य काल्पनिक बुद्ध तथा बोधिसत्व जो बुद्ध की प्रबुद्धता के अनुभव के ही प्रनीक है, बहुत ही सर्वसाधारण रुप से स्वीकृत है और कई लोगों के लिए तो वह उनकी अपनी आत्म-आधारित समझ के दायरें के परें स्थित बातों का मूर्त स्वरुप है। हम बुद्ध को यहाँ तक समझ सकते है कि वह मनुष्य ही थे तथा ऐतिहासिक भी थे, और हम इस बात को भी स्वीकार कर सकते है कि उन्हें समझ पाना हमारी समझ के दायरें मे नहीं है। अधिकतर लोगों के लिए बुद्ध, धर्म नियम प्रक्रियाँओं को समझ पाने का सबसे सरल माध्यम है। हालाँकि कुछ लोगों के लिए यह संभव होता है कि वह बिना किसी आकार या संकल्पना का आधार लेते हुए, श्रेष्ठतम मूल्यों के साथ, वास्तविकता के जिते जागते स्वरुप के रुप में संबंध स्थापित कर सकते है। परंतु फिर भी यह बुद्ध से ही संबंधीत होता है क्योंकि वह मूल्य भी बुद्ध की प्रबुद्धता की प्रबुद्धता के अनुभवों को ही स्वयं में धारण किए होते है और जिनसे हम बुद्ध के जीवन एवं उनके द्वारा दी गई शिक्षाओं के माध्यम से परिचित होते है।

यह आवश्यक है कि आध्यात्मिक-जीवन के आरंभ में ही आरंभकर्ताओं का बुद्ध के साथ परिचय कराया जाए, उनके जीवन काल में घटित घटनाओं तथा उनके इतिहास के साथ उनका परिचय हों तथा वे इससे भी परिचित हो कि उनके वह कौनसे विशिष्ट गुण है कि जिनके कारण वह बुद्ध बनें। बुद्ध की शिक्षाओं को

सुनने से उन्हें परिचित कराया जाए तथा इस बात से भी कि विभिन्न मूर्तियों एवं चित्रकला के माध्यम से प्रस्तुत बुद्ध के वर्णन को वे पहचान सकें। बुद्ध तथा बोधि के विभिन्न पहलूओं को धारण किये हुए प्रतिकात्मक बुद्ध एवं बोधिसत्वों के प्रति आदर एवं श्रद्धा को महसूस करना तथा उन्हें अभिव्यक्त करना सिखना उनके लिए आवश्यक होता है। उन्हें त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में ऐसी संस्कृती की अनुभुती होना आवश्यक है कि जहाँ ऐसी भावनाओं का होना, ना केवल स्वीकार्य है अपितु उनके होने की कामना भी की जाती है। जिस शून्यवादी तथा रुक्ष से परिवेश में, बहुतांश व्यक्ती परिवेश पाते है उसे ध्यान में रखते हुए इस बात की विशेष आवश्यकता है।

जैसे जैसे लोग बुद्ध के साथ काल्पनिक संबंध को विकसित करते है और जब उन्हें अधिक से अधिक गहराई से यह अहसास होने लगता है कि बुद्ध वास्तव में कौन है, तब बुद्ध को तथा बुद्ध जिस बात का प्रतिनिधित्व करते है उस बात को अपने जीवन का केंद्र एवं ध्येय मानते हुए वे बुद्ध को शरण-गमण करते है। जब यह शरण-गमण परिणामकारक हो जाता है तब उन्हें दीक्षा प्रदान की जा सकती है। दीक्षा ग्रहण करने के उपरांत वे अपने आध्यात्मिक पुनर्जन्म के अभ्यास के एक नयी गंभीरता तथा नियमितता प्रदान करते है। वे अपने आपको बुद्ध तथा उनके बुद्धत्व के प्रति ग्रहणशील बनाते हुए, अपनी आत्म-आसक्ति से उपर उठने के लिए स्वयं को समर्पित कर देते है। उनके प्रतिदिन के ध्यान-अभ्यास में पद्धतीबद्ध रुप से तथा उस व्यक्ती के लिए जो मार्ग यथोचित है उसके माध्यम से यह साध्य करने के लिए उनके व्यक्तीगत उपाध्याय उनकी सहायता करते है और दीक्षा के उपरांत इस पहलू का आगे और भी अधिक विकास किस तरह किया जाए इस विषय को लेकर उनसे बातचीत करते रहते है।

दीक्षा-संस्कार समारोह का परिशोधन

अब हम दीक्षा-संस्कार समारोह के प्रमुख घटकों का एक व्यापक संदर्भ की तथा आध्यात्मिक-जीवन प्रणाली की उर्ध्वाधर एवं समस्तरीय अक्षरेखा की रोशनी में परीक्षण कर सकते है। इससे हम यह देख सकते है कि वर्तमान में इस दीक्षा-संस्कार को समझने एवं निभाने के विषय में संघरक्षित हमसे क्या अपेक्षा रखते है। सार्वजनिक दीक्षा-संस्कार समारोह के स्थान पर मैं व्यक्तिगत दीक्षा-संस्कार समारोह के प्रत्येक घटक का परिक्षण करूंगा क्योंकि इसी दीक्षा-संस्कार के विषय में कुछ पुनर्विचार होने की आवश्यकता है। यह बात स्वाभाविक ही है कि व्यक्तिगत दीक्षा-संस्कार के इन घटकों के विषय में जो कुछ भी कहा गया है वह सार्वजनिक दीक्षा-संस्कार में उपस्थित उन घटकों के विषय में भी उतना ही लागू होता है। सार्वजनिक दीक्षा-संस्कार समारोह के शेष जितने भी अंग है उनके विषय में किसी भी प्रकार के विशिष्ट परिशोधन की आवश्यकता नहीं है।

१. **प्रशिक्षण** : दीक्षा-संस्कार समारोह उस प्रशिक्षण की अंतिम परिणती है जिसका प्रारंभ उसी क्षण से हो जाता है जब व्यक्ती प्रथम बार त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के संपर्क में आता है -- अगर उससे भी पिछे

उन आवेगों एवं उत्कट इच्छाओं तक जाना संभव ना हो तो के जिनकी वजह से व्यक्ती प्रथमतः संपर्क में आया था। आध्यात्मिक आचरण का आरंभ करते ही वह आध्यात्मिक प्रशिक्षण की रचना प्रणाली के सभी पाँच पहलूओं पर कार्य करना आरंभ कर देता है, जिसमें शामील है : एकीकृतता, सकारात्मक भावना, आध्यात्मिक ग्रहणशीलता, आध्यात्मिक मृत्यु तथा आध्यात्मिक पुनर्जन्म। उस व्यक्ती को प्रत्येक पहलू का गहरा अनुभव प्राप्त हो इस हेतु से उसे विषय की स्पष्टता एवं उस विषय को आचरण में लाने की पद्धती की जानकारी के रुप में साधन प्रदान किए जाते है। उस व्यक्ती के गुरू, कल्याणमित्र एवं सहचर उसके व्यक्तीगत स्वभाव, रुचि एवं अभिक्षमता को ध्यान में रखते हुए, हर पहलू के विकास की दृष्टी से, उसे प्रेरित करते रहते है।

जब व्यक्ती दीक्षा ग्रहण करने हेतु याचना करता है तब उसे सार्वजनिक उपाध्याय तथा उचित दीक्षा चमू के मार्गदर्शन में दीक्षा प्रशिक्षण प्रक्रिया में प्रवेश प्राप्त होता है। यह प्रशिक्षण संघरक्षित द्वारा प्रस्तुत धम्म के सार एवं त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में प्रचलित तत्वों तथा अन्य अभ्यासों में उसे प्रशिक्षित करने पर केंद्रित होता है। इसी प्रशिक्षण के दौरान दीक्षा चमू के सदस्य, उस व्यक्ती के गुरूओं, कल्याणमित्रों एवं सहचरों के साथ मिलकर, जो शैली उस व्यक्ती के प्रशिक्षण हेतु योग्य है उस शैली की सहायता से, आध्यात्मिक-प्रशिक्षण प्रणाली के पाँच पहलूओं पर कार्य करने हेतु उसकी सहायता करते है। उस व्यक्ती को करीब से जाननें वाले धम्मचारी या धम्मचारीणीयाँ जब उसकी व्यक्तीगत उपाध्याय से सिफ़ारिश करते है तो वह उस व्यक्ती की दीक्षा संबंधीत अंतिम निर्णय लेते है। जब किसी व्यक्ती को दीक्षा के लिए स्वीकृती प्रदान की जाती है तो उस वक्त तक उसका अपने एक कल्याणमित्र के साथ विशेष संबंध स्थापित हो चुका होता है। यही कल्याणमित्र उसकी दीक्षा के अंतिम चरणों में विशेष भूमिका निभाता है, खास कर जहाँ पाँच पहलूओं के विकास की बात होती है, और यही कल्याणमित्र उस व्यक्ती के व्यक्तीगत उपाध्याय की भी भूमिका निभाता है।

२. **दीक्षा-संस्कार समारोह के लिए तैयारी** : जब एक बार किसी को दीक्षा के लिए स्वीकार किया जाता है, तब एक नये चरण की शुरवात होती है। समारोह के कुछ महिनों या हफ्तों के पूर्व से ही, व्यक्तीगत उपाध्याय, दीक्षा प्रत्याशी के साथ पहलें से कहीं ज्यादा बारीकी से इस विषय पर चर्चा करते है कि वह आध्यात्मिक-प्रशिक्षण प्रणाली के पाँच पहलूओं में से प्रत्येक पर किस प्रकार से कार्य कर रहा/रही है, ताकि वे उसे उन पहलूओं को अधिक स्पष्ट रुप से समझनें में तथा उन्हें अपने आप पर परिणामकारक रुप से लागू करने में, उसकी सहायता कर सकें। इस रिश्ते का प्रभाव ऐसा होना चाहिए कि व्यक्ती के जीवन के हर क्षेत्र में आचरण को एक तीव्र केंद्रियता तथा बेहतर धार प्राप्त होनी चाहिए। धीरे धीरे उन दोनों के बीच आपस में इस विषय पर एक व्यापक सहमती निर्माण होनी चाहिए कि दीक्षा के उपरांत मित्र इन पहलूओं को किस प्रकार से आचरण में लायेगा।

निश्चित ही, इस प्रकार की सहमती एक संवेदनशील चर्चा के माध्यम से निर्माण होनी चाहिए, जहाँ व्यक्ती के व्यक्तिमत्व तथा उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किसी भी प्रकार का तनाव या कोई प्रतिबंध निर्माण ना हो इस बात की ओर विशेष रुप से ध्यान दिया जाना चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि जैसे जैसे वह व्यक्ती अपने आपको जानने लगेगा, अभ्यास का स्वरुप उसके समक्ष अधिक स्पष्ट होता जाएगा तथा परिस्थितियों मे जैसे जैसे बदलाव होता जाएगा, इन सब के अनुसार उसमें विकास के लिए पर्याप्त स्थान उपलब्ध हों। दीक्षा-संस्कार संपन्न होने के आरंभिक कुछ वर्षों के लिए इस विषय को लेकर, दोनों ही को लगातार संपर्क बनाए रखना होता है। मोटे तौर पर साधारण पाँच वर्ष की कालावधी का समय, *निस्साय*[२] अवधी के रुप में निर्देशित है, जिसके दौरान नव-दीक्षीत धम्मचारी अपनी आध्यात्मिक जरुरतों के लिए अपने उपाध्यायों पर आश्रित रहता है। कम से कम इस वक्त के दौरान, अभ्यास की पद्धती में किये जाने वाले सभी महत्वपूर्ण बदलाव, अपने व्यक्तीगत उपाध्याय के साथ चर्चा करके उनकी राय लेकर ही किये जाने चाहिए।

क्योंकि दीक्षा-संस्कार आध्यात्मिक जीवन के आध्यात्मिक मृत्यु एवं पुनर्जन्म इन दो पहलूओं के साथ, अपने आप को निर्णायक रुप से संलग्न करने का प्रतिनिधित्व करता है इसलिए तैयारी के समय के दौरान की चर्चा का मुख्य मुद्दा यह होगा कि *मित्र* परिणामकारक रुप से इनका आचरण कैसे कर पायेगा। दिनचर्या के छोटे-बड़े हर कार्य में इन पहलूओं को अमल में लाए जाने के अलावा, व्यक्तीगत उपाध्याय और वह दीक्षा प्रत्याशी यह देखने का प्रयास करते है कि प्रतिदिन की ध्यान-साधना में उनका अभ्यास किस प्रकार से किया जा सकता है। जो कुछ भी इन चर्चाओं से उभरेगा वह ऐसा अभ्यास होगा जिससे व्यक्तिगत उपाध्याय दीक्षा ग्रहण करने वाले व्यक्ती को, दीक्षा-संस्कार समारोह के समय दीक्षा ग्रहण करने वाले व्यक्ती को विधिपूर्वक परिचित करवायेंगे और व्यक्ती द्वारा विधिपूर्वक वह अभ्यास ग्रहण करने में ही यह बात अंतर्निहित होती है कि वह प्रतिदिन उस अभ्यास को करने का निश्चय करता है। उस ध्यान-अभ्यास में आध्यात्मिक मृत्यु एवं पुनर्जन्म के साथ संपर्कमग्नता बहुत सशक्त तथा एकदम प्रकट रुप से समाविष्ट होती है।

यह बात इतनी महत्वपूर्ण नहीं कि यह ऐसा कुछ है जो एकदम ही नवीन है या फिर यह कि व्यक्तीगत दीक्षा-संस्कार के समय इसके साथ पहली बार आमना-सामना हुआ है। यह भी संभव है कि पूर्वतयारी की चर्चाए केवल प्रतिदिन की जाने वाली ध्यान-साधना, जिसे व्यक्ती पहले ही से करता चला आ रहा है, उसे ही अधिक सुदृढ़ता या तीव्रता प्रदान करें, यद्यपि अधिक सुस्पष्टता के साथ।

---

[२] निस्साय, 'आश्रय' या 'आधार'। भिक्षु परंपरा में यदि कोई नव दीक्षीत भिक्षु स्वेच्छा से निस्साय का त्याग नहीं करता तो वह पाँच वर्षों के काल के लिए अपनी आर्थिक तथा आध्यात्मिक जरुरतों के लि अपने गुरू पर आश्रित रहता है, जैसे कि उनकी श्रामणेर दीक्षा के समय संघरक्षित को निस्साय को त्यागने के लिए कहा गया था। त्रैलोक्य बौद्ध महासंघ में इस बात पर आम सहमती है कि दीक्षा-संस्कार को ग्रहण करने के पश्चात, नव दीक्षीत धम्मचारी/धम्मचारीणी गण, पहले पाँच वर्षों तक अपने उपाध्याय के साथ नियमित एवं घनिष्ठ संबंध बनाए रखेंगे, इस दौरान उन्हें जो भी महत्वपूर्ण निर्णय लेने होते है उसके लिए उन्हें अपने उपाध्याय से परामर्श लेना होता है तथा विशेषरुप से अपने आध्यात्मिक आचरण के विकास को लेकर उनसे संपर्क बनाए रखना होता है, अपने अभ्यास की रचना में कोई भी महत्वपूर्ण बदलाव करने से पूर्व उन्हें अपने उपाध्याय से सहमती प्राप्त करनी होती है।

कुछ लोगों के संदर्भ में ऐसा हो सकता है कि दीक्षा-संस्कार समारोह के समय, दीक्षा ग्रहण करनें वाले व्यक्ती का अपनी ध्यान-साधना के साथ पहली बार आमना-सामना हो, फिर भले ही पहले कितनी ही बार उस अभ्यास के आधार के विषय में चर्चा क्यों ना हो चुकी हो। महत्वपूर्ण बात यह है कि दीक्षा के उपरांत का प्रतिदिन का ध्यान-अभ्यास दीक्षा संस्कार समारोह के साथ बहुत सशक्त रुप से संबंधीत होता है तथा उसमें आध्यात्मिक मृत्यु एवं पुनर्जन्म के तत्व प्रकट रुप में समावेशित होते है -- और यह भी कि इस ध्यान-अभ्यास में नियमितता को बरकरार रखा जाता है।

३. **आध्यात्मिक ग्रहणशीलता** : अक्सर व्यक्तिगत दीक्षा-संस्कार समारोह किसी लंबे या छोटे अवधी के शिविर के दौरान ही संपन्न होता है, और अक्सर ही बेहद परिणामकारक स्वरुप में यह आवश्यक ऐसे योग्य मनोभाव एवं वातावरण की निर्मिती करता है। जिस व्यक्ती की दीक्षा होना निश्चित है वह शिविर के दौरान ही किसी समय में, जिस पूजा-कक्ष में दीक्षा-संस्कार विधी संपन्न होने वाला है, उस कक्ष में अपने आपको अपने व्यक्तिगत उपाध्याय के साथ एकांत में पाता है।

दीक्षा-संस्कार विधी का आरंभ होता है तीन पारंपारिक वस्तुओं पुष्प, दिप एवं धूप के अर्पन के साथ जिससे की ग्रहणशीलता एवं श्रद्धायुक्त आदर के मनोभाव निर्मित होते है। इसके उपरांत विशुद्धी की कुछ गाथाओं का पठन होता है जिससे यह मनोभाव और अधिक दृढ़ होते है, क्योंकि वास्तविक ग्रहणशीलता के लिए काया, वाचा तथा मन की शुद्धता आवश्यक होती है। नकारात्मक कर्मो के अवशेष वास्तविकता की प्रगतीशील प्रवृत्ती के साथ होने वाले व्यक्ती के संपर्क में बाधा उत्पन्न करते है।[३]

तदोपरांत दीक्षा प्रत्याशी अपने व्यक्तीगत उपाध्याय से दीक्षा की याचना करता है, इस बार विशेष रुप से वह अपने उपाध्याय, अपने उपाध्याय के उपाध्यायों, संघ के संस्थापक संघरक्षित और अंत में स्वयं बुद्ध के शिष्यत्व का स्वीकार करनें के संदर्भ में पुनः एक बार अपनी ग्रहणशीलता को अभिव्यक्त करता है।[४] यह एक परंपरागत पालि तरीका है जो दीक्षा ग्रहण करने वाले व्यक्ती का जो स्थान है, उस पर एक परंपरा को ग्रहण करने वाले व्यक्ती के रुप में, ज़ोर देता है। उस पश्चात जो कुछ भी होता है उससे ना केवल ग्रहणशीलता का मनोभाव अधिक मजबूत होता है बल्कि इस पूरे समारोह के दौरान उपाध्याय और दीक्षा ग्रहण करनें वाले व्यक्ती के बीच का जो संबंध होता है वह भी सुदृढ़

---

[३] इन गाथाओं में 'पवित्र मंत्रो' का उल्लेख है। इस विषय पर कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता है क्योंकि दीक्षा ग्रहण करते समय शायद कुछ लोग मंत्र को ग्रहण करना नहीं चाहेंगे। यहाँ पर 'मंत्र', पहले तो, निश्चित ही विभिन्न बुद्धों या बोधिसत्वों की ओर इशारा करता है। परंतु संघरक्षित का यह मानना है कि यह शब्द त्रिशरण के पठन पर भी लागू किया जा सकता है और ठीक उसी की तरह यह भी बुद्ध और उनके बुद्धत्व की अनुभुती के साथ व्यक्ती का संबंध स्थापित करता है।

[४] दीक्षार्थी पूरे दीक्षा-संस्कार समारोह के दौरान उपाध्याय को 'भन्ते' (पुरुष) और 'अय्ये' (स्त्री) कहकर संबोधित करते है। परेपरागत रुप से इस शब्द का उपयोग भिक्षु अपने से वरिष्ठ भिक्षु या भिक्षुणी के लिए, भिक्षुणीयाँ सभी भिक्षुओं के लिए तथा सर्वसाधारण लोग सभी भिक्षुओं तथा भिक्षुणीयों के लिए करते है, यह शब्द केवल आदर-भाव का सूचक है, थोड़ा बहुत वैसे ही जैसे कि अंग्रेजी में 'सर' या फिर 'मॅडम' जैसे शब्दों का उपयोग किया जाता है और यह आवश्यक नहीं कि हमेशा ही इसका अभिधान बौद्ध-मठ परंपरा से हो।

होता है, एक पूरे निर्णायक रुप से नेतृत्व कर रहा होता है दूजा उसका अनुकरण करता है, एक दे रहा होता है दूजा ग्रहण कर रहा होता है।

४. **शरण-गमण** : दीक्षा ग्रहण करने वाले व्यक्ती द्वारा त्रिशरण के सूत्र का पठन करना इस संस्कार समारोह का मध्यवर्ती अंश है। एक तरह से, अन्य सभी बातों को दरकिनार किया जा सकता है, क्योंकि शरण-गमण का यह अंग अपने आप में ही तात्कालिक शरण-गमण से परिणामकारक शरण-गमण में हो रहे निर्णायक स्थित्यांतरण को सूचित करता है, ऐसा शरण-गमण जो कि आगे जाकर वास्तविक शरण-गमण की स्थिती को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है। विधी के संदर्भ में कहा जाए तो यही वह क्षण होता है जब व्यक्ती की इच्छाशक्ती, वास्तविकता में समाविष्ट जो प्रगतीशील प्रवृत्ती है उसका परिणामकारक रुप से समर्थन करती है।

शरण-गमण के विषय पर अन्यत्र विस्तारपूर्वक चर्चा की जा चुकी है, इस कारण यहाँ उस पर अधिक परिशोधन की आवश्यकता नहीं है -- परंतु, कम शब्दों के प्रयोग का किसी भी तरह से यह अर्थ नहीं कि उसके महत्व को कम आँका गया है।

५. **दीक्षा-संस्कार की दस प्रतिज्ञाए ग्रहण करना** : दसशील -- जिसे दीक्षा-संस्कार समारोह में प्रतिज्ञाए इसलिए भी कहा जाता है ताकि इस मोड़ पर उन्हें ग्रहण करने के अत्याधिक महत्व को दर्शाया जा सके, वह जीवन के हर क्षेत्र में त्रिरत्नों को शरण-गमण करने का ही विस्तरण है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि त्रिरत्नों को शरण-गमण करने के जो मायने है वह यह प्रतिज्ञाए है।

दसशील अपने आप में ही धम्म-जीवन की परिपूर्णता को देखने का दूसरा माध्यम है। इस कारण से वह धम्म-आचरण प्रणाली के पाँच पहलूओं के साथ भी मेल खाता है : एकीकृतता, सकारात्मक भावना, आध्यात्मिक ग्रहणशीलता, आध्यात्मिक मृत्यु एवं आध्यात्मिक पुनर्जन्म। यह प्रतिज्ञाए लेने वाला आचरण-प्रणाली की रचना अनुसार आचरण को भी अपना रहा होता है।

६. **साक्षी होना तथा स्वीकृती प्रदान करना** : दसशीलों को ग्रहण करने के पठन का नेतृत्व करने के कारण, उपाध्याय उस कृती के साक्षी होते है। वह इस बात को सुनिश्चित कर लेते है कि दीक्षा प्रत्याशी ने वाकई में शरण-गमण किया है और पूर्ण आवेग के साथ इस प्रकार से किया है जैसे कि बुद्ध ने अपने अंतिम उपदेश में निर्देश दिया था, **अप्पमादेन सम्पादेथ**, -- 'जागृती पूर्वक, प्रयास करते रहो'!

७. ध्यान-अभ्यास हेतु प्रतिज्ञाबद्धता : दीक्षा-संस्कार समारोह के इस चरण में अब तक निरपवाद रुप से एक मंत्र दिया जाता रहा है, जिसके द्वारा दीक्षा ग्रहण करने वाले व्यक्ती को प्रतिकात्मक रुप से एक विशेष बुद्ध या बोधिसत्व की साधना से अवगत कराया जाता है। जहाँ इस बात की अभी भी संभवनाए है कि बहुत से लोग इस प्रकार की साधना का स्वीकार करेंगे वहाँ ऐसा भी है कि सदासर्वदा ऐसा ही नहीं होगा। जो कुछ भी दीक्षा प्रत्याशी को दिया जाना होता है, वह एक ऐसा ध्यान-अभ्यास होता है जो उस व्यक्ती के लिए उपयुक्त हो, उसके अपने आध्यात्मिक अनुभवों से उभरा हों तथा स्पष्टतया आध्यात्मिक मृत्यु एवं पुनर्जन्म के अंगो से संबंधीत हो -- क्योंकि आध्यात्मिक जीवन एवं आचरण के यहीं वे पहलू है जिनके साथ परिणामकारक शरण-गमण विशेष रुप से संलग्न होता है।

हम पहले ही यह देख चुके है कि व्यक्ती जब प्रथम बार त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के संपर्क में आता है तभी से उसे प्राप्त होने वाला प्रशिक्षण ऐसा होना चाहिए जो उसे उसके स्वभाव के अनुरुप विकसित होने के लिए आवश्यक उपकरण(साधन) तथा मार्गदर्शन प्रदान करें आर इसके लिए अनिवार्य है आध्यात्मिक आचरण के पाँचो पहलूओं में से हर एक का होना : एकीकृतता, सकारात्मक भावना, आध्यात्मिक ग्रहणशीलता, आध्यात्मिक मृत्यु एवं आध्यात्मिक पुनर्जन्म। दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व कई महिनों तक व्यक्ती की अपने व्यक्तिगत उपाध्याय के साथ, अपने अभ्यास को इन शिर्षकों के अंतर्गत लाने हेतु चर्चा चलती रहेगी, ध्यान के संदर्भ में भी और ध्यान के अलावा भी। दीक्षा-संस्कार समारोह के संपन्न होने के समय तक यह स्पष्ट हो जाएगा कि उनका प्रतिदिन का ध्यान-अभ्यास किस प्रकार का होगा या कम से कम उस ध्यान-अभ्यास की रुपरेखा तैयार होगी और यह भी कि आध्यात्मिक मृत्यु एवं पुनर्जन्म से वह किस प्रकार संबंधीत है -- और यह भी कि क्या समारोह से पूर्व सभी कड़ियाँ आपस में जुड़ रही है या नहीं। इस ध्यान-अभ्यास का स्वरुप ऐसा होना चाहिए कि प्रतिदिन की जीवन परिस्थितीयों के मध्येनजर उसका अभ्यास करतें रहना, व्यक्ती के लिए व्यवहार्य हो और यह अभ्यास ऐसा होना चाहिए जो उसके अनुभवों एवं आकांक्षाओं के साथ निकट से संबंधीत हो।

अपने प्रशिक्षण के दौरान ही कुछ लोग बुद्ध के साथ या फिर जो *बोधि* के गुणों को धारण किए होने के प्रतिक है ऐसे किसी एक बुद्ध या बोधिसत्व के साथ दृढ़ संबंध स्थापित कर चुके होते है। यह प्रतिकात्मक बुद्ध या बोधिसत्व सभी प्रकार की आत्म-आसक्ति से परे ऐसी संस्कारितता के प्रगतीशील चलन को मूर्त स्वरुप में दर्शाते है या फिर दूसरें शब्दों में ऐसा भी कहा जा सकता है ऐसी धर्म नियम प्रक्रियाँओं के मूर्त स्वरुप को दर्शातें है जो प्रक्रियाँए पूर्णतः स्वतंत्रता एवं उत्स्फूर्तता से कार्यरत है। अगर इस प्रकार के सहज एवं परिपक्व आकर्षण को प्रमाणिकता के साथ महसूस किया जाता है तो दीक्षा ग्रहण करने वाला व्यक्ती उस बुद्ध या बाधिसत्व की ध्यान-साधना को ग्रहण कर सकता है। परंतु यदि वह बुद्ध ऐतिहासिक बुद्ध नहीं हैं तो हमें यह स्पष्ट होना चाहिए कि जिस किसी बुद्ध या

बोधिसत्व की साधना को ग्रहण किया जा रहा है वह स्वयं बुद्ध के अपने अनुभवों का ही एक पहलू या मूर्त स्वरुप है। इस बात को बहुत ही गंभीरता पूर्वक ध्यान में रखना चाहिए कि जिस बुद्ध या बोधिसत्व का अवलोकन किया जा रहा है, वह वास्तव में शाक्यमुनि बुद्ध से भिन्न नहीं है।

यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि हमेशा ही अवलोकन का अर्थ अपने मन की आँखो से देखना, ऐसा ही नहीं होता -- भले ही अधिकतर लोगों के लिए यह ऐसा ही हो। महत्वपूर्ण यह होना चाहिए कि उस बुद्ध या बोधिसत्व की उपस्थिती को हम महसूस कर सकें, फिर चाहे वह किसी भी काल्पनिक माध्यम से क्यों ना हों, और यह भी कि हम ऐसे संपर्क में प्रवेश कर सकें जहाँ हमारी श्रद्धा एवं कृतज्ञता का बहाव उपर उनकी ओर हो तथा आशिर्वाद एवं शिक्षाओं का बहाव उपर से नीचे हमारी ओर हों। संघरक्षित द्वारा अधिकृत की गई ध्यान-साधना की कुछ पुस्तकों की सहायता से हम यह कर सकते है या फिर पारंपारिक रुप से किये जाने वाले बुद्धानुस्मृती को अभ्यास को करने से या फिर यह ध्यान-साधना, साधक के अपने अनुभवों में से भी प्रत्यक्ष रुप से उभर सकती है। उपाध्याय और दीक्षा ग्रहण करने वाले व्यक्ती को आपस में विचार-विमर्श करते हुए इस बात पर कार्य करते रहना होता है। कई मामलों में उपाध्याय, दीक्षा ग्रहण करने वाले व्यक्ती को यह परामर्श भी दे सकते है कि वह इस प्रकार के ध्यान का अनुभव रक्षने वाले अन्य धम्मचारी से विचार-विमर्श करें।

बुद्ध या बोधिसत्व का अवलोकन, बहुत स्पष्ट रुप से, आध्यात्मिक पुनर्जन्म का ही अभ्यास है, जिसमें अपने आप ही आध्यात्मिक मृत्यु भी अंतर्निहित है। परंतु आध्यात्मिक मृत्यु के इस अंश को अधिक प्रकट रुप से अलग कर, अभ्यास के संदर्भ के अंतर्गत उस पर चिंतन मनन किया जाना आवश्यक है फिर चाहे वह चिंतन अभ्यास में उपस्थित कल्पित आकृती के शून्य स्वभाव पर जोर देकर किया जाए या फिर किन्हीं अन्य **लक्षणों** को उस अनुभव पर लागू कर के। जरुरी है कि उपाध्याय, दीक्षा ग्रहण करने वाले व्यक्ती का इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित करें।

इस प्रकार के अभ्यास में मंत्र का उपयोग किया भी जा सकता है और नहीं भी -- क्योंकि मंत्र, निश्चित ही, बुद्ध या बोधिसत्व की उपस्थिती का ध्वनि समतुल्य होता है। मंत्र पारंपारिक भी हो सकता है और नहीं भी -- वह ऐसी ध्वनियों का संच होना चाहिए जो उसका पठन करने वाले व्यक्ती के भीतर सच्चाई एवं गहराई से बुद्धत्व के अनुरुप गुणों का आह्वान करें। दीक्षा-संस्कार समारोह से पूर्व ही उपाध्याय एवं दीक्षा प्रत्याशी के बिच इस पर विचार-विनिमय होना आवश्यक है।

कुछ लोगों के लिए अपने को किसी भी आकृती से संबंधीत महसूस करना आसान नहीं होता, परंतु फिर भी वे सर्वश्रेष्ठ गुणों को प्रमाणिकता से महसूस कर सकते है, जैसे कि संपूर्ण शुद्धता, प्रज्ञा, करूणा या फिर सहजता से सहजता से क्लेशों या अस्वास्थ्यकर ऐसे हेतुओं से संपूर्ण स्वतंत्रता को।

जब तक यह अनुभुती बुद्ध से संबंध स्थापित करती है, कि जिनके माध्यम से ही हम इन गुणों तक पहुँच सकते है, तब तक हम इन गुणों पर चिंतन करते हुए ऐसा ध्यान-अभ्यास कर सकते है जिसमें आध्यात्मिक मृत्यु और पुनर्जन्म दोनों ही अंतर्निहित हो। वास्तविक, कुछ लोगों के लिए केवल लोभ, द्वेष और मोह का अंत करने जैसा बेहद सरल चिंतन ही पर्याप्त होता है।

त्रिरत्न बौद्ध महासंघ मे प्रचलित ध्यान-अभ्यास की सभी पद्धतीयों का आध्यात्मिक मृत्यु एवं पुनर्जन्म के संदर्भ में अन्वेषण किया जा सकता है। श्वसन प्रक्रिया की जागृती अनापानसती ध्यान के १६ चरणों के माध्यम से रखी जा सकती है, जिसमें आध्यात्मिक मृत्यु के तत्व को भी पाया जा सकता है। और हम यह भी देख सकते है कि इस अभ्यास का बुद्ध के साथ भी निकटवर्ती संबंध है क्योंकि यह अभ्यास उन्हीं के द्वारा सिखलाया गया है -- और यह हमें उस बोधि के अनुभव तक ले जाता है जिसे उन्होंने जाना तथा समझा था। इसी तरह से मेत्ता भावना का संबंध आत्म-आसक्ति को त्यागने से है, विशेष रुप से इस ध्यान के पाँचवे चरण में जहाँ हम सभी पर 'समान रुप से' मैत्री का विकास करते है। मेत्ता भावना का चरम विस्तार उन आत्म-भाव विरहित प्रवृत्तीयों की अनुभुती को जगाता है जो उस समय उत्पन्न होती है जब कोई धम्म के प्रवाह में प्रवेश करता है। इन तत्वों पर सुस्पष्ट चिंतन के परिणामस्वरुप आध्यात्मिक मृत्यु तथा पुनर्जन्म को प्राप्त किया जा सकता है। यही नियम ध्यान-अभ्यास की अन्य पद्धतीयों पर भी लागू किया जा सकता है।

इन सभी बातों पर दीक्षा-संस्कार समारोह से पूर्व ही विचार-विमार्श हो जाना चाहिए ताकि व्यक्तिगत उपाध्याय यह बात निश्चित कर सकें कि दीक्षा प्रत्याशी को कौन सा ध्यान-अभ्यास दिया जाना चाहिए। इस मोड पर व्यक्तिगत दीक्षा-संस्कार समारोह के दौरान ही, उपाध्याय उनके लिए उनके ध्यान-अभ्यास के एक संक्षिप्त तथा आदर्श स्वरुप का नेतृत्व करेंगे जिसमें आध्यात्मिक मृत्यु एवं पुनर्जन्म के तत्वों का समावेश भी देखा जा सकता है। जो व्यक्ती दीक्षा ग्रहण कर रहा है वह उसी समय अपने आपको उस ध्यान-अभ्यास में लीन करने का पूरा-पूरा प्रयास करते हुए सहजता एवं शांत भाव से केवल अपने उपाध्याय द्वारा दी गई सूचनाओं का पालन करता है। इस समय यह आवश्यक नहीं कि दीक्षा प्रत्याशी भी अपने उपाध्याय के साथ जोर से मंत्र पठन करें क्योंकि अभी यह अपने आप में दीक्षा ग्रहण करना नहीं है। दीक्षा-संस्कार समारोह के इस भाग को संपन्न करने के कारण दीक्षा ग्रहण करने वाला व्यक्ती अपने आपको उस समय से ही वह ध्यान-अभ्यास प्रतिदिन करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध करता है।

इस समय व्यक्ती जिस ध्यान-अभ्यास को ग्रहण करता है उसे पहले से अब तक, दीक्षा के उपरांत, आमतौर पर की 'साधना' या 'काल्पनिक (माध्यम से बुद्ध या बोधिसत्वों के) अवलोकन' के रुप में जाना जाता रहा है। परंतु क्योंकि बुद्ध तथा बोधिसत्वों के अवलोकन का अभ्यास करते हुए भी कई

लोग उन्हें काल्पनिक रुप से देख नहीं पाते है इसलिए इसे 'काल्पनिक अवलोकन' ऐसा कहना उचित नहीं होगा। सामन्यतया त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में साधना इस शब्द का अर्थ बेहद संकुचित तथा विशिष्ट रुप में लिया जाता है, जो किसी एक प्रकार के बुद्ध या बोधिसत्व की ओर निर्देश करता है। परंतु संस्कृत शब्द साधना के अनेक अर्थों में से एक अर्थ में एक प्रकार की बहुव्यापकता दिखलाई पड़ती है जो किसी भी प्रकार के परिणामकारक आध्यात्मिक अभ्यास पर लागू होती है ('सीधे ध्येय तक पहुँचाने वाला अभ्यास')। इस तरह हम जिस प्रकार से इस शब्द का प्रयोग करते आ रहे है, उसमें सुधार कर के हम इसमें ऐसे हर अभ्यास को समाविष्ट कर सकते है कि जिसे प्रतिदिन करने हेतु हमने दीक्षा ग्रहण करते समय अपने आप को प्रतिज्ञाबद्ध किया था, फिर चाहे उस अभ्यास में किसी बुद्ध या बोधिसत्व के स्वरुप का समावेश हो या ना हो।

८. **दीक्षा-संस्कार** : दीक्षा-संस्कार विधी में त्रिरत्नों को किए जाने वाले परिणामकारक शरण-गमण का जो स्पष्ट संकेत दिया जाता है वह नविनतम जीवन की ओर बढ़ाया हुआ पहला कदम होता है। सांसारिक चक्र से वास्तविकता की प्रगतीशील प्रवृत्ती को अधिक महत्व देनेवाले व्यक्ती के रुप में व्यक्ती का पुनः जन्म होता है, फिर चाहे अभी उन्हें कितना ही लंबा सफर तय क्यों ना करना पड़े। यह केवल आंनरिक बदलाव नहीं होता, उस व्यक्ती की व्यक्तीगत सामाजिक पहचान का भी बदलाव होता है -- जिसे निश्चित ही सार्वजनिक दीक्षा-संस्कार मे पूरी तरह से मान्यता प्रदान की जाती है। यह वास्तव में एक नयी शुरवात होती है -- 'बुद्ध क परिवार' में प्रवेश। तद्नुसार, पूरा समारोह ही एक दीक्षा है -- कोई यह भी कह सकता है कि यही एकमात्र दीक्षा है, किसी और अधिक दीक्षा की अब कोई आवश्यकता शेष नहीं होती क्योंकि सभी कुछ इसी में अंतर्निहित है।

एक व्यक्ती शरण-गमण करता है जिसके साक्षी ऐसे व्यक्ती होते है जो उस बात के महत्व को जानते है क्योंकि वे स्वयं भी ऐसा कर चुके होते है। उस शरण-गमण को जीवन के हर क्षेत्र में समाविष्ट किया जा चुका होता है, शीलों में समाविष्ट आचरण-प्रणाली की रचना के संदर्भ में तथा प्रतिदिन के ध्यान-अभ्यास के संदर्भ में, वह अभ्यास जिसे करने के लिए वह व्यक्ती अपने आपको प्रतिज्ञाबद्ध करता है। यह उस व्यक्ती के नविनतम जीवन का आधार होता है। व्यक्ती की नयी पहचान को अभिव्यक्त करने वाला जो नया नाम उसे दिया जाता है वह इस दीक्षा-संस्कार समारोह के दीक्षा प्रदान किये जाने वाले गुण को दर्शाने वाला विशिष्ट प्रतिक है। उस नये नाम में स्वयं ही धम्म से जुड़ा ऐसा एक निश्चित अर्थ होता है -- और इस बात से कोई फर्क नहीं वह नया नाम उस व्यक्ती के अपने स्वयं के स्वभाव से मेल खाता है या नहीं, वह नाम 'व्यक्तीगत' नहीं होता बल्कि वह उस व्यक्ती के एक ऐसे जीवन में प्रवेश का सूचक होता है जो उसे व्यक्तीगत से परें ले जाने वाला है।

त्रिरत्न बौद्ध महासंघ की एकसंघता इसी बात में निहित है कि इसके सभी सदस्यों ने इस प्रकार से दीक्षा ग्रहण की है तथा वे उसके प्रति प्रामाणिक है, वे इस बात को समझते है कि किस विशिष्ट पद्धती से हमारें गुरू उर्गेन संघरक्षित नें हमें शिक्षाए प्रदान की है, जैसे की यहाँ प्रस्तुत किया जा चुका है।

९. **आशिर्वाद** : पालि की सुप्रसिद्ध आशिर्वाद गाथाओं के पठन के साथ यह दीक्षा-संस्कार समारोह संपन्न होता है। इन गाथाओं के पठन के द्वारा उपाध्याय, जो कुछ भी अभी अभी हुआ है उसके लिए दृढ़ता से अपनी मान्यता अभिव्यक्त करते है और साथ ही दीक्षा ग्रहण करने वाले व्यक्ती के भविष्य की मंगल कामना करते है -- और यहीं बात उनके नये शिष्य के, त्रिरत्नों को किए गये शरण-गमण के परिणामकारक होने को दी गई अंतिम मान्यता भी होती है। यह गाथाए अपने आपको इस मार्ग पर चलने हेतु प्रतिज्ञाबद्ध करने के अत्यंत कुशल कर्म के कारण प्राप्त होने वाले परिणामों का भी स्मरण कराती है -- जैसे जैसे कोई अधिक से अधिक आध्यात्मिक मृत्यु को प्राप्त करता है वैसे वैसे विश्व की हितकर उर्जा उसकी सहायता करती है और उसे संरक्षण प्रदान करती है क्योंकि वह अपने आपको वास्तविकता की प्रगतीशील प्रवृत्ती के साथ सन्निहित कर लेता है।

परिवर्तन करना

हालाँकि यहाँ जो भी चर्चा की गई है उसका महत्व इससे अधिक कुछ नहीं कि जो अब तक होता आया है यह उसीका स्पष्टीकरण है परंतु फिर भी इससे एक बहुत बड़ा बदलाव आना चाहिए। थोड़ा बहुत, व्यक्ती के स्वभाव एवं परिस्थितीयों को ध्यान में रखते हुए, जिस प्रकार से दीक्षा प्रक्रिया को समझा तथा निभाया जाता रहा है तथा जिस पद्धती से उपाध्याय, उन दीक्षा प्रत्याशीयों के साथ कार्य करते है जिनकी वह दीक्षा करनें वाले है, उस पद्धती में धीरे-धीरे तथा सूक्ष्म रुप से बदलाव आना चाहिए, जैसे कि इस निबंध में उस पर चर्चा की गई है। इसके अर्थ को पूरी तरह से ग्रहण करने की प्रक्रिया की शुरवात होनी चाहिए उपाध्यायों से, जिनमें व्यक्तीगत एवं सार्वजनिक उपाध्याय दोनों ही शामील है। इसके परिणाम स्वरुप, उपाध्याय होने का अर्थ क्या है, यह समझने के लिए सभी को पुनः एक बार प्रशिक्षित होने की आवश्यकता होगी क्योंकि अब उनसे पहले से कई अधिक अपेक्षाए की जाएगी। कई लोगों को यह सिखना पड़ेगा कि जिन लोगों को वह दीक्षा प्रदान करने वाले है उनके साथ दीक्षा-संस्कार समारोह से पूर्व तथा उसके उपरांत किस प्रकार से कार्य किया जाए। उनके लिए यह आवश्यक होगा की वे धम्म के तत्वों को अपने व्यक्तीगत अनुभवों पर किस प्रकार से लागू किया जा सकता है यह अधिक स्पष्ट रुप से समझने हेतु उन लोगों को सहायता प्रदान करें तथा इस बात के लिए भी कि वे उनके भीतर प्रकट होती प्रक्रियाओं के साथ अधिक परिणामकारक रुप से कार्य कर सकें।

जो बात संघरक्षित सूचित कर रहे है उसे अगर हम पूर्णतः आचरण में ला सके तो नये धम्मचारी/धम्मचारीणीयों को पहले से कई अधिक सहयोग एवं प्रशिक्षण प्राप्त होगा और इस कारण से संघ और भी अधिक सशक्त हो जाएगा। कदाचित इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि वरिष्ठ धम्मचारी/धम्मचारीणीयाँ जो उपाध्याय की भूमिका निभाते है उन्हें पहले से और भी अधिक सखोलता के साथ तथा परिपूर्ण रुप से प्रशिक्षण प्राप्त करनें की आवश्यकता होगी ताकि वे इसमें अंतर्निहित आध्यात्मिक चुनौती का सामना कर सकें। उन्हें स्वयं भी अधिक से अधिक सखोलता एवं वास्तविकता के साथ आध्यात्मिक मृत्यु को प्राप्त करना होगा, ताकि वे स्वयं बोधिचित्त या आत्म-भाव विरहित इच्छाओं के प्रवाह में अपना पुनर्जन्म होता महसूस कर सके। क्योंकि अंतिमतः बोधिचित्त ही उपाध्याय की जिम्मेदारी निभाने का सबसे विश्वसनीय आधार है।

धम्मचारी सुभुती
मएस् ग्वाईन्
वेल्स्

२४ नवंबर २०११
परिशोधन, २७ जनवरी २०१२